सरल गीता सार

वैदिक सनातन

ॐ श्री गणेशाय नमः ॐ

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम ॥१॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥२॥

१. अर्जुनविषादयोग

धृतराष्ट्र बोले– हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए युद्ध के इच्छुक मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या-क्या किया? (१.०१) संजय बोले– पाण्डवों की सेना की व्यूह-रचना देखकर राजा दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के पास जाकर कहा – हे आचार्य, अपने बुद्धिमान शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार ख़ड़ी की गयी पाण्डु पुत्रों की इस महान् सेना को देखिए. (१.०२-०३) इस सेना में महान् धनुर्धारी योद्धा हैं, जो युद्ध में भीम और अर्जुन के समान हैं; जैसे युयुधान, विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पुत्र, ये सब महारथी हैं. (१.०४-०६)

सेना नायकों का परिचय

हे द्विजोत्तम, हमारे पक्ष में भी जो विशिष्ट योद्धागण हैं, उनको भी आप जान लीजिये. आपकी जानकारी के लिए मैं अपनी सेना के नायकों के नाम बताता हूं. (१.०७) एक तो स्वयं आप, भीष्म, कर्ण और विजयी कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र हैं. मेरे लिए प्राणत्याग करने के लिए तैयार, अनेक प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित तथा युद्ध में कुशल और भी अनेक शूरवीर हैं. (१.०८-०९) भीष्मपितामह द्वारा रक्षित हमारी सेना अजेय है और भीम द्वारा रक्षित उनकी सेना जीतने में सुगम है. अतः विभिन्न मोर्चों पर अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए आप सब लोग भीष्मपितामह की ही सब ओर से रक्षा करें. (१.१०-११) उस समय कौरवों में वृद्ध, प्रतापी भीष्मपितामह ने दुर्योधन के मन में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से गरज कर शंखध्वनि की. (१.१२) तत्पश्चात् शंख, नगाड़े, ढोल, शृंगी आदि वाद्य एक साथ ही बज उठे, जिनका बड़ा भयंकर नाद हुआ. (१.१३) इसके उपरान्त श्वेत अश्वों से युक्त भव्य रथ में बैठे हुये श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुन ने भी अपने-अपने दिव्य शंख बजाये. (१.१४) भगवान कृष्ण ने पांचजन्य, अर्जुन ने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करने वाले भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाये. (१.१५) हे राजन्, कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय नामक शंख और नकुल तथा सहदेव ने क्रमशः सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये. श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र और महाबाहु अभिमन्यु ने अलग-अलग शंख बजाये. (१.१६-१८) वह भयंकर घोष आकाश और पृथ्वी पर गूंजने लगा और उसने आपके पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये. (१.१९)

अर्जुन द्वारा युद्धेच्छुक यौद्धाओं को देखने की कामना

हे राजन्, इस प्रकार जब युद्ध प्रारम्भ होने वाला ही था कि कपिध्वज अर्जुन ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को स्थित देखकर अपना धनुष उठाकर भगवान कृष्ण से ये शब्द कहे – हे अच्युत, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कीजिए; जिससे मैं युद्ध की इच्छा से खड़े उन लोगों का निरीक्षण कर सकूं, जिनके साथ मुझे युद्ध करना है. (१.२०-२२) दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय चाहने वाले जो राजा लोग यहां एकत्र हैं, उन युद्ध करने वालों को मैं देखना चाहता हूं. (१.२३) संजय बोले– हे भारत, अर्जुन के इस प्रकार कहने पर भगवान कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच उत्तम रथ को भीष्म, द्रोण तथा पृथ्वी के समस्त शासकों के सामने खड़ा करके कहा– हे पार्थ यहां एकत्र हुए इन कौरवों को देखो. (१.२४-२५) वहां अर्जुन ने अपने चाचाओं, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों और मित्रों को खड़े हुए देखा. (१.२६)

अर्जुन का विषाद

श्वशुरों, मित्रों और सब बन्धु-बान्धवों को भी उन दोनों सेनाओं में स्थित देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुन का मन करुणा से भर गया और विषाद युक्त होकर उसने यह कहा– हे कृष्ण, युद्ध की इच्छा से उपस्थित

इन स्वजनों को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं, मुख भी सूख रहा है और मेरे शरीर में कम्पन तथा रोमांच हो रहा है. (१.२७-२६) मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा जल रही है. मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है तथा मैं खड़ा रहने में भी असमर्थ हूं और हे केशव मैं शकुनों को भी विपरीत ही देख रहा हूं. युद्ध में अपने स्वजनों को मार कर कोई कल्याण भी नहीं देखता हूं. (१.३०-३१) हे कृष्ण, मैं न विजय चाहता हूं और न राज्य तथा न सुखों को ही. हे गोविन्द, हमें ऐसे राज्य से अथवा भोगों से और जीने से भी क्या लाभ है? क्योंकि वे सब लोग, जिनके लिए राज्य, भोग और सुख की इच्छा है, धन और जीवन की आशा त्यागकर युद्ध के लिए खड़े हैं. (१.३२-३३) हे मधुसूदन कृष्ण, गुरुजन, ताऊओं, चाचाओं, पुत्रों, पितामहों, मामाओं, श्वसुरों, पोतों, सालों तथा अन्य सम्बन्धियों को, मुझपर प्रहार करने पर भी, मैं मारना नहीं चाहता. तीनों लोक के राज्य के लिए भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या है ? (१.३४-३५)

हे जनार्दन कृष्ण, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारने से तो हमें केवल पाप ही लगेगा. (१.३६) इसलिए अपने बान्धवों, धृतराष्ट्र के पुत्रों, को मारना हमारे लिए उचित नहीं है, क्योंकि हे माधव, स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? (१.३७) यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग अपने कुल के नाश से उत्पन्न दोष को और मित्रों से विरोध करने में हुए पाप को नहीं देख रहे हैं; परन्तु हे जनार्दन, कुल के नाश से उत्पन्न दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से निवृत्त होने के लिए क्यों नहीं सोचना चाहिए? (१.३८-३६)

अर्जुन द्वारा युद्ध के दोषों का वर्णन

कुल के नाश से कुल के सनातन धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म नष्ट होने पर सारे कुल को पाप दबा लेता है. (१.४०) हे कृष्ण, पाप के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं; और हे वार्ष्णेय, स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर पैदा होते हैं. (१.४१) वर्णसंकर कुलघातियों को और सारे कुल को नरक में ले जाता है, क्योंकि (वर्णसंकर द्वारा) श्राद्ध और तर्पण न मिलने से पितर भी अपने स्थान से नीचे गिर जाते हैं. (१.४२) इन वर्णसंकर पैदा करने वाले दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं. (१.४३) हे जनार्दन, हमने सुना है कि जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उन्हें बहुत समय तक नरक में वास करना होता है. (१.४४)

कठिन समय में सशक्त भी भ्रमित हो जाते हैं

यह बड़े शोक की बात है कि हम लोग बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर बैठे हैं तथा राज्य और सुख के लोभ से अपने स्वजनों का नाश करने को तैयार हैं. (१.४५) मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा यदि शस्त्ररहित और सामना न करने वाले मुझको ये शस्त्रधारी कौरव रण में मार डालें. (१.४६) संजय बोले— ऐसा कहकर शोकाकुल मन वाला अर्जुन रणभूमि में बाणसहित धनुष का त्याग करके रथ के पिछले भाग में बैठ गया. (१.४७)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

२. सांख्ययोग

संजय बोले— इस तरह करुणा से व्याप्त, आंसू भरे, व्याकुल नेत्रों वाले, शोकयुक्त अर्जुन से भगवान कृष्ण ने कहा. (२.०१) श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, इस विषम अवसर पर तुम्हें यह कायरता कैसे प्राप्त हुई? यह श्रेष्ठ मनुष्यों के आचरण के विपरीत है तथा यह न तो स्वर्ग प्राप्ति का साधन है और न कीर्ति देने वाला ही है. (२.०२) इसलिए हे अर्जुन, तुम कायर मत बनो. यह तुम्हें शोभा नहीं देता. हे शत्रुओं को मारने वाले अर्जुन, तुम अपने मन की इस दुर्बलता को त्यागकर युद्ध करो. (२.०३)

अर्जुन द्वारा युद्ध-विरोधी तर्कों को जारी रखना

अर्जुन बोले— हे मधुसूदन, मैं इस रणभूमि में भीष्म और द्रोण के विरुद्ध बाणों से कैसे युद्ध करूं? हे अरिसूदन, वे दोनों ही पूजनीय हैं. (२.०४) इन महानुभाव गुरुजनों को मारने से अच्छा इस लोक में भिक्षा का अन्न खाना है, क्योंकि गुरुजनों को मारकर तो इस लोक में उनके रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूपी भोगों को ही तो भोगूंगा. (२.०५) और हम यह भी नहीं जानते कि हम लोगों के लिए (युद्ध करना या न करना, इन दोनों में) कौन-सा काम अच्छा है. अथवा यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या वे जीतेंगे. जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं. (२.०६)

इसलिए करुणापूर्ण और कर्तव्य पथ से भ्रमित, मैं, आपसे पूछता हूं कि मेरे लिए जो निश्चय ही कल्याणकारी हो उसे आप कृपया कहिए. मैं आपका शिष्य हूं, शरण में आये मुझको आप शिक्षा दीजिए. (२.०७) पृथ्वी पर निष्कण्टक समृद्ध राज्य तथा देवताओं का स्वामित्व प्राप्तकर भी मैं ऐसा कुछ नहीं देखता हूं, जिससे हमारे इन्द्रियों को सुखाने वाला शोक दूर हो सके. (२.०८) संजय बोले– हे राजन्, निद्रा को जीतने वाला, अर्जुन, अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान से "मैं युद्ध नहीं करूंगा" कहकर चुप हो गया. (२.०९) हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र) दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकयुक्त अर्जुन को अन्तर्यामी श्रीकृष्ण हंसते हुए-से ये वचन बोले. (२.१०)

आत्मा और शरीर के सच्चे ज्ञान से गीता के उपदेशों का प्रारम्भ

श्रीभगवान बोले– हे अर्जुन, तुम ज्ञानियों की तरह बातें करते हो, लेकिन जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए शोक करते हो. ज्ञानी मृत या जीवित किसी के लिए भी शोक नहीं करते. (२.११) ऐसा नहीं है कि मैं किसी समय नहीं था, अथवा तुम नहीं थे या ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे. (२.१२) **जैसे इसी जीवन में जीवात्मा बाल, युवा और वृद्ध शरीर प्राप्त करता है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त करता है. इसलिए धीर मनुष्य को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए. (१५.०८ भी देखें) (२.१३)** हे अर्जुन, इन्द्रियों के विषयों से संयोग के कारण होने वाले सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख क्षणभंगुर और अनित्य हैं, इसलिए हे अर्जुन, तुम उसको सहन करो. (२.१४) हे पुरुषश्रेष्ठ, दुःख और सुख में समान भाव से रहने वाले जिस धीर मनुष्य को इन्द्रियों के विषय व्याकुल नहीं कर पाते, वह मोक्ष का अधिकारी होता है. (२.१५)

आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है

असत् वस्तु का भाव नहीं होता है और सत् का अभाव नहीं होता है. तत्त्वदर्शी मनुष्य (असत् और सत्) दोनों को तत्त्व से जानते हैं. (२.१६) उस अविनाशी तत्त्व को जानो, जिससे यह सारा जगत व्याप्त है, इस अविनाशी का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है. (२.१७) इस अविनाशी, असीम और नित्य जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गये हैं, इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन, तुम युद्ध करो. (२.१८) **जो इस आत्मा को मारने वाला या मरने वाला मानते हैं, वे दोनों ही नासमझ हैं, क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जा सकता है. (कठो.उ. २.१९ में एक समानान्तर श्लोक है) (२.१९)** आत्मा कभी न जन्म लेता है और न मरता ही है. आत्मा का होना फिर न होना नहीं होता है. आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है. शरीर के नाश होने पर इसका नाश नहीं होता. (कठो.उ. २.१८ भी देखें) (२.२०) हे पार्थ, जो मनुष्य आत्मा को अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मरवायेगा और कैसे किसको मारेगा? (२.२१)

मृत्यु, और आत्मा का पुनर्जन्म की व्याख्या

जैसे मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीव मृत्यु के बाद अपने पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर प्राप्त करता है. (२.२२) शस्त्र इस आत्मा को काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती; क्योंकि आत्मा अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है. आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन है. (२.२३-२४) यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार कहा जाता है. अतः आत्मा को ऐसा जानकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.२५) हे महाबाहो, यदि तुम शरीर में रहने वाला जीवात्मा को नित्य पैदा होने वाला तथा मरने वाला भी मानो, तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म निश्चित है. अतः जो अटल है, उसके विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.२६-२७) **हे अर्जुन, सभी प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मृत्यु के बाद फिर अप्रकट हो जायेंगे, केवल (जन्म और मृत्यु के) बीच में प्रकट दीखते हैं; फिर इसमें शोक करने की क्या बात है? (२.२८)** कोई इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है, कोई इसका आश्चर्य की तरह वर्णन करता है, कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है और कोई इसके बारे में सुनकर भी नहीं समझ पाता है. (कठो.उ. २.०७ भी देखें) (२.२९) हे अर्जुन, सबके शरीर में रहने वाला यह आत्मा सदा अवध्य है, इसलिए किसी भी प्राणी के लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.३०)

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को क्षत्रिय के कर्त्तव्यों का आभास कराना

और अपने स्वधर्म की दृष्टि से भी तुम्हें अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्म नहीं है. (२.३१) हे पृथानन्दन, अपने आप प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्ग के खुले हुए द्वार जैसा है, जो सौभाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है. (२.३२) और यदि तुम इस धर्मयुद्ध को नहीं करोगे, तब अपने स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगे. (२.३३) तथा सब लोग बहुत दिनों तक तुम्हारी अपकीर्ति की चर्चा करेंगे. सम्मानित व्यक्ति के लिए अपमान मृत्यु से भी बढ़कर है. (२.३४) महारथी लोग तुम्हें डरकर युद्ध से भागा हुआ मानेंगे और जिनके लिए तुम बहुत माननीय हो, उनकी दृष्टि से तुम नीचे गिर जाओगे. (२.३५) तुम्हारे वैरी लोग तुम्हारी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुम्हारी बहुत बुराई करेंगे. तुम्हारे लिए इससे अधिक दुःखदायी और क्या होगा? (२.३६) युद्ध में मरकर तुम स्वर्ग जाओगे या विजयी होकर पृथ्वी का राज्य भोगोगे; इसलिए हे कौन्तेय, तुम युद्ध के लिए निश्चय करके खड़े हो जाओ. (२.३७) **सुख-दुःख, लाभ-हानि और जीत-हार की चिन्ता न करके मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिए. ऐसे भाव से कर्म करने पर मनुष्य को पाप (अर्थात् कर्म का बन्धन) नहीं लगता. (२.३८)**

कर्मयोग, अर्थात निष्काम सेवा का महत्त्व

हे पार्थ, मैंने सांख्यमत का यह ज्ञान तुम से कहा, अब कर्मयोग का विषय सुनो, जिस ज्ञान से युक्त होकर तुम कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाओगे. (२.३६) कर्मयोग में आरम्भ अर्थात् बीज का नाश ही नहीं होता तथा उल्टा फल भी नहीं मिलता है. इस निष्काम कर्मयोगरूपी धर्म का थोड़ा-सा अभ्यास भी (जन्म-मरणरूपी) महान् भय से रक्षा करता है. (२.४०) हे अर्जुन, कर्मयोगी केवल ईश्वरप्राप्ति का ही दृढ़ निश्चय करता है; परन्तु सकाम मनुष्यों की इच्छायें अनेक और अनन्त होती हैं. (२.४१)

वेदों का विषय भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के दोनों पहलू है

हे पार्थ, सकामी अविवेकीजन, जिन्हें वेद के मधुर संगीतमयी वाणी से प्रेम है, (वेद को यथार्थ रूप से नहीं समझने के कारण) ऐसा समझते हैं कि वेद में भोगों के सिवा और कुछ है ही नहीं. (२.४२) वे कामनाओं से युक्त, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानने वाले, भोग और धन को प्राप्त कराने वाली अनेक धार्मिक संस्कारों को बताते हैं, जो पुनर्जन्मरूपी कर्मफल को देने वाली होती है. (कठो.उ. २. ०५, ईशा.उ. ०६ भी देखें) (२.४३) भोग और ऐश्वर्य ने जिसका चित्त हर लिया है, ऐसे व्यक्ति के अन्तःकरण में भगवत् प्राप्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता है और वे परमात्मा का ध्यान नहीं कर सकते हैं. (२.४४) हे अर्जुन, वेदों (के कर्मकाण्ड) का विषय प्रकृति के तीन गुणों से सम्बन्धित है; तुम त्रिगुणातीत, निर्द्वन्द्व, परमात्मा में स्थित, योगक्षेम न चाहने वाले और आत्मपरायण बनो. (२.४५) ब्रह्म को तत्त्व से जानने वालों के लिए वेदों की उतनी ही आवश्यकता रहती है, जितनी महान् सरोवर के प्राप्त होनेपर एक छोटे जलाशय की. (२.४६)

कर्मयोग का सिद्धान्त और व्यवहार

केवल कर्म करना ही मनुष्य के वश में है, कर्मफल नहीं. इसलिए तुम कर्मफल की आसक्ति में न फंसो तथा अपने कर्म का त्याग भी न करो. (२.४७) हे धनंजय, परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में स्थित होकर, सभी प्रकार की आसक्तियों को त्यागकर, तथा सफलता और असफलता में सम होकर, अपने कर्तव्यकर्मों का भलीभांति पालन करो. मन का समत्व भाव में रहना ही योग कहलाता है. (२.४८) कर्मयोग से सकामकर्म अत्यन्त निकृष्ट है; अतः हे अर्जुन, तुम कर्मयोगी बनो, क्योंकि फल की इच्छा रखने वालों को (असफलता का भय तथा) दुःख होता है. (२.४६) **कर्मफल की आसक्ति त्यागकर कर्म करने वाला निष्काम कर्मयोगी इसी जीवन में पाप और पुण्य से मुक्त हो जाता है, इसलिए तुम निष्काम कर्मयोगी बनो. (फल की आसक्ति से असफलता का भय होता है, जिसके कारण कर्म अच्छी तरह नहीं हो पाता है.) निष्काम कर्मयोग को ही कुशलता पूर्वक कर्म करना कहते हैं. (२.५०)** ज्ञानी कर्मयोगीजन कर्मफल की आसक्ति को त्यागने के कारण जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं तथा परम शान्ति को प्राप्त करते हैं. (२.५१) जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदल को पार कर जायगी, उस समय तुम शास्त्र से सुने हुए तथा सुनने योग्य वस्तुओं से भी वैराग्य प्राप्त करोगे. (२.५२)

जब अनेक प्रकार के प्रवचनों को सुनने से विचलित हुई तुम्हारी बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में निश्चल रूप से स्थिर हो जायगी, उस समय तुम समाधि में परमात्मा से युक्त हो जाओगे. (२.५३) अर्जुन बोले— हे केशव, समाधि प्राप्त, स्थिर बुद्धि वाले अर्थात् स्थितप्रज्ञ मनुष्य का क्या लक्षण है? स्थिर बुद्धि वाला मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है. (२.५४)

आत्मज्ञानी के लक्षण

श्रीभगवान बोले— हे पार्थ, जिस समय साधक अपने मन की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्णरूप से त्याग देता है और आत्मा में आत्मानन्द से ही सन्तुष्ट रहता है, उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है. (२.५५)

दुःख से जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुख की जिसको आकांक्षा नहीं होती तथा जिसके मन से राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है. (२.५६) जिसे किसी भी वस्तु में आसक्ति न हो, जो शुभ को प्राप्तकर प्रसन्न न हो और अशुभ से द्वेष न करे, उसकी बुद्धि स्थिर है. (२.५७) जब साधक सब ओर से अपनी इन्द्रियों को विषयों से इस तरह हटा ले जैसे कछुआ (विपत्ति के समय अपनी रक्षा के लिए) अपने अंगों को समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर समझनी चाहिए. (२.५८) इन्द्रियों को विषयों से हटाने वाले मनुष्य से विषयों की इच्छा तो हट भी जाती है, परन्तु विषयों की आसक्ति दूर नहीं होती. परमात्मा के स्वरूप को (तारतम्य विद्या द्वारा) भलीभांति समझकर स्थितप्रज्ञ मनुष्य (विषयों की) आसक्ति से भी दूर हो जाता है. (२.५९)

अनियन्त्रित इन्द्रियों के दुष्परिणाम

हे कुन्तीनन्दन, संयम का प्रयत्न करते हुए ज्ञानी मनुष्य के मन को भी चंचल इन्द्रियां बलपूर्वक हर लेती हैं. (२.६०) इसलिए साधक अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके मुझ में श्रद्धापूर्वक ध्यान लगाकर बैठे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है. (२.६१) विषयों का चिन्तन करने से विषयों में आसक्ति होती है, आसक्ति से (विषयों के सेवन करने की) इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा (पूरी नहीं होने) से क्रोध होता है. (२.६२) क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक उत्पन्न होता है. सम्मोह से मन भ्रष्ट हो जाता है. मन भ्रष्ट होने पर बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का पतन होता है. (२.६३) रागद्वेष से रहित संयमी साधक अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ शान्ति प्राप्त करता है. (२.६४) शान्ति से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है और शान्तचित्त मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर होकर परमात्मा से युक्त हो जाती है. (२.६५) (ईश्वर से) अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में न ईश्वर का ज्ञान होता है, न ईश्वर की भावना ही. भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और अशान्त मनुष्य को सुख कहां? (२.६६)

जैसे जल में तैरती नाव को तूफान उसे अपने लक्ष्य से दूर ढकेल देता है, वैसे ही इन्द्रिय-सुख मनुष्य की बुद्धि को गलत रास्ते की ओर ले जाता है. (२.६७) इसलिए हे अर्जुन, जिसकी इन्द्रियां सर्वथा विषयों के वश में नहीं होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर रहती है. (२.६८) सब प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें संयमी मनुष्य जागा रहता है; और जब साधारण मनुष्य जागते हैं, तत्त्वदर्शी मुनि के लिए वह रात्रि के समान होता है. (२.६९) **जैसे सभी नदियों के जल समुद्र को बिना विचलित करते हुए परिपूर्ण समुद्र में समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस संयमी मनुष्य में विकार उत्पन्न किये बिना समा जाते हैं, वह मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है, न कि भोगों की कामना करने वाला. (२.७०)** जो मनुष्य सब कामनाओं को त्यागकर इच्छारहित, ममतारहित तथा अहंकार रहित होकर विचरण करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है. (२.७१) हे पार्थ, यही ब्राह्मी स्थिति है, जिसे प्राप्त करने के बाद मनुष्य मोहित नहीं होता. अन्तसमय में भी इस निष्ठा में स्थित होकर मनुष्य ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है. (२.७२)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

३. कर्मयोग

अर्जुन बोले— हे जनार्दन, यदि आप कर्म से ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर, हे केशव, आप मुझे इस भयंकर कर्म में क्यों लगा रहे हैं? आप मिश्रित वचनों से मेरी बुद्धि को भ्रमित कर रहे हैं. अतः आप उस एक बात को निश्चितरूप से कहिए, जिससे मेरा कल्याण हो. (३.०१-०२) **श्रीभगवान बोले— हे निष्पाप अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है. जिनकी रुचि ज्ञान में**

लगती है, उनकी निष्ठा ज्ञानयोग से और कर्म में रुचि वालों की निष्ठा कर्मयोग से होती है. (३.०३) मनुष्य कर्म का त्यागकर कर्म के बन्धनों से मुक्त नहीं होता. केवल कर्म के त्याग मात्र से ही सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती. (३.०४) कोई भी मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति के गुणों द्वारा मनुष्यों से – परवश की तरह – सभी कर्म करवा लिए जाते हैं. (३.०५) जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य इन्द्रियों को (प्रदर्शन के लिए) रोककर मन द्वारा विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है. (३.०६)

दूसरों की सेवा क्यों?

परन्तु हे अर्जुन, जो मनुष्य बुद्धि द्वारा अपने इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों द्वारा निष्काम कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है. (३.०७) तुम अपने कर्तव्य का पालन करो, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरे शरीर का निर्वाह भी नहीं होगा. (३.०८) **केवल अपने लिए कर्म करने से मनुष्य कर्मबन्धन से बन्ध जाता है; इसलिए हे अर्जुन, कर्मफल की आसक्ति त्यागकर सेवाभाव से भलीभांति अपना कर्तव्यकर्म का पालन करो. (३.०९)**

पारस्परिक सहयोग विधाता का पहला निर्देश

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में यज्ञ (अर्थात् निस्वार्थ सेवा) के साथ प्रजा का निर्माण करके कहा— "इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि प्राप्त करो और यह यज्ञ तुम लोगों को इष्टफल देने वाला हो." (३.१०) तुम लोग यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और देवगण तुम लोगों को उन्नत करें. इस प्रकार एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त होगे. (३.११) यज्ञ द्वारा पोषित देवगण तुम्हें इष्टफल प्रदान करेंगे. देवताओं के द्वारा दिए हुए भोगों को जो मनुष्य उन्हें बिना दिए अकेला सेवन करता है, वह निश्चय ही चोर है. (३.१२) यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो लोग केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं, वे पाप के भागी होते हैं. (ऋ.वे. १०.११७.०६ भी देखें) (३.१३) समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से होता है, वृष्टि यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्म से, कर्म वेदों में विहित है और वेद को अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जानो. इस तरह सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ (अर्थात् सेवा) में प्रतिष्ठित है. (४.३२ भी देखें) (३.१४-१५) **हे पार्थ, जो मनुष्य सेवा द्वारा इस सृष्टिचक्र को चलते रहने में सहयोग नहीं देता है, वैसा पापमय, भोगी मनुष्य व्यर्थ ही जीता है. (३.१६)** परन्तु जो मनुष्य परमात्मा में ही रमण करता है तथा परमात्मा में ही तृप्त और संतुष्ट रहता है, वैसे आत्मज्ञानी मनुष्य के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता. (३.१७) उसे कर्म करने से या न करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा वह (परमात्मा के सिवा) किसी और प्राणी पर आश्रित नहीं रहता. (३.१८) **इसलिए तुम अनासक्त होकर सदा अपने कर्तव्यकर्म का भलीभांति पालन करो, क्योंकि अनासक्त रहकर कर्म करने से ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करता है. (३.१९)**

नेता उदाहरण बनें

राजा जनक आदि ज्ञानीजन निष्काम कर्मयोग द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे. लोक कल्याण के लिए भी तुम्हारा कर्म करना ही उचित है. (३.२०) श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं. वह जो प्रमाण देता है, जन समुदाय उसी का अनुसरण करते हैं. (३.२१) हे पार्थ, तीनों लोकों में न तो मेरा कोई कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु मुझे अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्म करता हूं. (३.२२) क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूं तो हे पार्थ, मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करेंगे. इसलिए यदि मैं कर्म न करूं, तो ये सब लोक नष्ट हो जायेंगे और मैं ही इनके विनाश का तथा अराजकता का कारण बनूंगा. (३.२३-२४) हे भारत, अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्मफल में आसक्त होकर भलीभांति अपना कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी जनकल्याण हेतु आसक्तिरहित होकर भलीभांति अपना कर्म करें. (३.२५) **ज्ञानी कर्मफल में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे तथा स्वयं (अनासक्त होकर) समस्त कर्मों को भलीभांति करता हुआ दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा दे. (३.२९ भी देखें) (३.२६)**

सभी कर्म प्रकृति करतीं हैं

वास्तव में संसार के सारे कार्य प्रकृति मां की गुणरूपी परमेश्वर की शक्ति के द्वारा ही किए जाते हैं, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपने आपको ही कर्ता समझ लेता है (तथा कर्मफल की आसक्तिरूपी बन्धनों से बन्ध जाता है. मनुष्य तो परम शक्ति के हाथ की केवल एक कठपुतली मात्र है). (५.०९, १३.२९, १४.१९ भी देखें) (३.२७) परन्तु हे महाबाहो, गुण और कर्म के रहस्य को जानने वाले ज्ञानी मनुष्य ऐसा समझकर — कि (इन्द्रियों द्वारा) प्रकृति के गुण ही सारे कर्म करते हैं (तथा मनुष्य कुछ भी नहीं करता है) — कर्म में आसक्त नहीं होते. (३.२८) प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित होकर अज्ञानी मनुष्य गुणों के (द्वारा किए गये) कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन्हें ज्ञानी मनुष्य सकाम कर्ममार्ग से विचलित न करें. (३.२६ भी देखें) (३.२९) **मुझ में चित्त लगाकर, सम्पूर्ण कर्मों (के फल) को मुझ में अर्पण करके, आशा, ममता और संतापरहित होकर अपना कर्तव्य (युद्ध) करो. (३.३०)** जो मनुष्य बिना आलोचना किये, श्रद्धा पूर्वक मेरे इस उपदेश का सदा पालन करते हैं, वे कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो आलोचक मेरे इस उपदेश का पालन नहीं करते, उन्हें अज्ञानी, विवेकहीन तथा भ्रमित समझना चाहिए. (३.३१-३२) सभी प्राणी अपने स्वभाव के वश में होकर उसी के अनुसार कर्म करते हैं. ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है. फिर इन्द्रियों के निग्रह का क्या प्रयोजन है? (३.३३)

पूर्णता के मार्ग में दो बाधायें

प्रत्येक इन्द्रिय के भोग में राग और द्वेष, मनुष्य के कल्याण मार्ग में विघ्न डालने वाले, दो महान् शत्रु रहते हैं. इसलिए मनुष्य को राग और द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए. (३.३४) अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है. स्वधर्म कार्य में मरना भी कल्याणकारक है. अस्वाभाविक कार्य हानिकारक होता है. (१८.४७ भी देखें) (३.३५)

काम पाप का मूल है

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, न चाहते हुए भी बलपूर्वक बाध्य किए हुए के समान किससे प्रेरित होकर मनुष्य पाप का आचरण करता है? (३.३६) **श्रीभगवान बोले— रजो गुण से उत्पन्न यह काम है, यही क्रोध है, कभी भी पूर्ण नहीं होने वाले इस महापापी काम को ही तुम (अध्यात्मिक मार्ग का) शत्रु जानो. (३.३७) जैसे धुएं से अग्नि और धूलि से दर्पण ढक जाता है तथा जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही काम आत्मज्ञान को ढक देता है. (३.३८)** हे कौन्तेय (अर्जुन), अग्नि के समान कभी तृप्त न होने वाले, ज्ञानियों के नित्य शत्रु, काम, के द्वारा ज्ञान ढक जाता है. (३.३९) **इन्द्रियां, मन और बुद्धि काम के निवास स्थान कहे जाते हैं. यह काम इन्द्रियां, मन और बुद्धि को अपने वश में करके ज्ञान को ढककर मनुष्य को भटका देता है. (३.४०)** इसलिए हे अर्जुन, तुम पहले अपनी इन्द्रियों को वश में करके, ज्ञान और विवेक के नाशक इस पापी कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (३.४१)

काम पर विजय कैसे पायें

इन्द्रियां शरीर से श्रेष्ठ कही जाती हैं, इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और आत्मा बुद्धि से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है. (कठो.उ. ३.१० तथा गीता ६.०७-०८ भी देखें) (३.४२) **इस प्रकार आत्मा को मन और बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (सेवा, ध्यान, पूजन आदि से की हुई शुद्ध) बुद्धि द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो, तुम इस दुर्जय कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (कठो.उ. ३.०३-०६ भी देखें) (३.४३)**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

४. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

कर्मयोग पुरातन विस्मृत निर्देश है

श्रीभगवान बोले— मैंने कर्मयोग के इस अविनाशी सिद्धान्त को सूर्यवंशी राजा विवस्वान को सिखाया, विवस्वान ने अपने पुत्र मनु से कहा तथा मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को सिखाया. इस प्रकार परम्परा से

प्राप्त हुए कर्मयोग को राजर्षियों ने जाना; परन्तु हे परन्तप, बहुत दिनों के बाद यह ज्ञान इस पृथ्वीलोक में लुप्त सा हो गया. तुम मेरे भक्त और प्रिय मित्र हो, इसलिए वही पुरातन कर्मयोग आज मैंने तुम्हें कहा है, क्योंकि यह कर्मयोग एक उत्तम रहस्य है. (४.०१-०३) अर्जुन बोले— आपका जन्म तो अभी हुआ है तथा सूर्यवंशी राजा विवस्वान का जन्म सृष्टि के आदि में हुआ था, अतः मैं कैसे जानूं कि आप ही ने विवस्वान से इस योग को कहा था? (४.०४)

प्रभु अवतार का उद्देश्य

श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे बहुत सारे जन्म हो चुके हैं, उन सब को मैं जानता हूं, पर तुम नहीं जानते. (४.०५) यद्यपि मैं अजन्मा, अविनाशी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर हूं, फिर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूं. (१०.१४ भी देखें) (४.०६) **हे अर्जुन, जब-जब संसार में धर्मकी हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब अच्छे लोगों की रक्षा, दुष्टों का संहार तथा धर्म संस्थापना के लिए मैं, परब्रह्म परमात्मा, हर युग में अवतरित होता हूं. (तु.रा. १.१२०.०३-०४ भी देखें) (४.०७-०८)** हे अर्जुन, मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं. इसे जो मनुष्य भलीभांति जान लेता है, उसका मरने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता तथा वह मेरे लोक, परमधाम, को प्राप्त करता है. (४.०९) राग, भय और क्रोध से रहित, मुझ में तल्लीन, मेरे आश्रित तथा ज्ञानरूपी तप से पवित्र होकर, बहुत से मनुष्य मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं. (४.१०)

प्रार्थना और भक्ति का मार्ग

हे अर्जुन, जो भक्त जिस किसी भी मनोकामना से मेरी पूजा करते हैं, मैं उनकी मनोकामना की पूर्ति करता हूं. मनुष्य अनेक प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए मेरी शरण लेते हैं. (४.११) कर्मफल के इच्छुक संसार के साधारण मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोक में कर्मफल शीघ्र ही प्राप्त होते हैं. (४.१२) **मेरे द्वारा ही चारो वर्ण अपने-अपने गुण, स्वभाव और रुचि के अनुसार बनाए गए हैं. सृष्टि की रचना आदि कर्म के कर्ता होनेपर भी मुझ परमेश्वर को अविनाशी और अकर्ता ही जानना चाहिए. (क्योंकि प्रकृति के गुण ही संसार चला रहे हैं) (१८.४१ भी देखें) (४.१३)** मुझे कर्म का बन्धन नहीं लगता, क्योंकि मेरी इच्छा कर्मफल में नहीं रहती है. इस रहस्य को जो व्यक्ति भलीभांति समझकर मेरा अनुसरण करता है, वह भी कर्म के बन्धनों से नहीं बन्धता है. (४.१४) प्राचीनकाल के मुमुक्षुओं ने इस रहस्य को जानकर कर्म किए हैं. इसलिए तुम भी अपने कर्मों का पालन उन्हीं की तरह करो. (४.१५)

सकाम, निष्काम, और निषिद्ध कर्म

विद्वान् मनुष्य भी भ्रमित हो जाते हैं कि कर्म क्या है तथा अकर्म क्या है, इसलिए मैं तुम्हें कर्म के रहस्य को समझाता हूं ; जिसे जानकर तुम कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे. (४.१६) सकाम कर्म, विकर्म अर्थात् पापकर्म तथा निष्कामकर्म (अर्थात् अकर्म) के स्वरूप को भलीभांति जानलेना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बहुत ही न्यारी है. (४.१७)

कर्मयोगी को कर्म-बन्धन नहीं

जो मनुष्य कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है, वही ज्ञानी, योगी तथा समस्त कर्मों का करने वाला है. (अपने को कर्ता नहीं मानकर प्रकृति के गुणों को ही कर्ता मानना कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखना कहलाता है) (३.०५, ३.२७, ५.०८, १३.२९ भी देखें) (४.१८) जिसके सारे कर्मों के संकल्प ज्ञानरूपी अग्नि से जलकर स्वार्थरहित हो गये हैं, वैसे मनुष्य को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं. (४.१९) **जो मनुष्य कर्मफल में आसक्ति का सर्वथा त्यागकर, परमात्मा में नित्यतृप्त रहता है तथा (भगवान के सिवा) किसी का आश्रय नहीं रखता, वह कर्म करते हुए भी (वास्तव में) कुछ भी नहीं करता है (तथा अकर्म रहने के कारण कर्म के बन्धनों से सदा मुक्त रहता है). (४.२०)** जो आशा रहित है, जिसके मन और इन्द्रियां वश में हैं, जिसने सब प्रकार के स्वामित्व का परित्याग कर दिया है, ऐसा मनुष्य शरीर से कर्म करता हुआ भी पाप (अर्थात् कर्म के बन्धन) को प्राप्त नहीं होता है. (४.२१) अपने आप जो कुछ भी प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहने वाला, द्वन्द्वों से अतीत, ईर्ष्या से रहित तथा सफलता और असफलता में समभाव वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्म के बन्धनों से नहीं बन्धता है. (४.२२) जिसकी ममता तथा आसक्ति सर्वथा मिट गयी है, जिसका चित्त ज्ञान

में स्थित है, ऐसे परोपकारी मनुष्य के कर्म के सभी बन्धन विलीन हो जाते हैं. (४.२३) **यज्ञ का अर्पण, धी, अग्नि तथा आहुति देने वाला सभी परब्रह्म परमात्मा ही है. इस तरह जो सब कुछ में परमात्मा का ही स्वरूप देखता है, वह परमात्मा को प्राप्त होता है. (४.२४)**

यज्ञ के विभिन्न प्रकार

कोई योगीजन देवताओं के पूजनरूपी यज्ञ करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा (ज्ञानरूपी) यज्ञ का हवन करते हैं. (४.२५) अन्य योगीलोग श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियों का संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं तथा कुछ लोग शब्दादि विषयों का इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं. (४.२६) दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों के और प्राणों के कर्मों को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूपी अग्नि में हवन करते हैं. (४.२७) दूसरे साधक द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ तथा योगयज्ञ करते हैं और दूसरे कठिन व्रत करनेवाले स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करते हैं. (४.२८) दूसरे कितने ही प्राणायाम करने वाले योगीजन प्राण और अपान की गति को — अपानवायु में प्राणवायु का तथा प्राणवायु में अपानवायु का (क्रियायोग के द्वारा) हवन कर — रोक लेते हैं. (४.२९) दूसरे साधक नियमित आहार करके प्राणवायु में अपान वायु का हवन करते हैं. ये सभी यज्ञों को जानने वाले हैं तथा यज्ञ के द्वारा इनके पाप नष्ट हो जाते हैं. (४.३०) **हे कुरुश्रेष्ठ (अर्जुन), यज्ञ के प्रसादरूपी ज्ञानामृत को प्राप्तकर योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करते हैं. यज्ञ न करने वाले मनुष्य के लिए परलोक तो क्या, यह मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं होता. (४.३८, ५.०६ भी देखें) (४.३१)** वेदों में ऐसे अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है. उन सब यज्ञों को तुम (शरीर, मन और इन्द्रियों की) क्रिया द्वारा सम्पन्न होने वाले जानो. इस प्रकार जानकर तुम (कर्मबन्धन से) मुक्त हो जाओगे. (३.१४ भी देखें) (४.३२)

ज्ञानयोग श्रेष्ठतर आध्यात्मिक अभ्यास है

हे परंतप अर्जुन, ज्ञानयज्ञ द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही सारे कर्मों का लक्ष्य अर्थात् पराकाष्ठा है. (४.३३) उस तत्त्वज्ञान को तुम ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास जाकर, उन्हें आदर, जिज्ञासा तथा सेवा से प्रसन्न करके सीखो. तत्त्वदर्शी ज्ञानी मनुष्य तुम्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे. (४.३४) जिसे जानकर तुम पुनः इस प्रकार भ्रम को नहीं प्राप्त होगे; तथा हे अर्जुन, इस ज्ञान के द्वारा तुम संपूर्ण भूतों को आत्मा — अर्थात् मुझ परब्रह्म परमात्मा — में देखोगे. (६.२९, ६.३०, ११.०७, ११.१३ भी देखें) (४.३५) सब पापियों से अधिक पाप करने वाला मनुष्य भी सम्पूर्ण पापरूपी समुद्र को ब्रह्मज्ञानरूपी नौका द्वारा निस्सन्देह पार कर जायगा. (४.३६) **क्योंकि हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को जला देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि कर्म (के सारे बन्धनों) को भस्म कर देती है. (४.३७)**

ज्ञानयोग की कर्मयोगी को स्वयं ही प्राप्ति

इस संसार में तत्त्वज्ञान के समान (अन्तःकरण को) शुद्ध करने वाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है. उस तत्त्वज्ञान को, ठीक समय आने पर, कर्मयोगी अपने आप प्राप्त कर लेता है. (४.३१, ५.०६ भी देखें) (४.३८) श्रद्धावान, साधन-परायण और जितेन्द्रिय मनुष्य तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त करता है. (४.३९) विवेकहीन, श्रद्धाहीन तथा संशय करने वाले (नास्तिक) मनुष्य का पतन होता है. संशय करने वाले के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है. (४.४०)

ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष के लिये अनिवार्य

हे धनंजय अर्जुन, जिसने कर्मयोग के द्वारा समस्त कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर दिया है तथा ज्ञान और विवेक द्वारा जिनके (परमात्मा के बारे में) समस्त संशयों का विनाश हो चुका है, ऐसे आत्मज्ञानी मनुष्य को कर्म नहीं बांधते हैं (४.४१) इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन तुम अपने मन में स्थित इस अज्ञानजनित संशय को ज्ञानरूपी तलवार द्वारा काटकर समत्वरूपी कर्मयोग में स्थित होकर अपना कर्म (अर्थात् युद्ध) करो. (४.४२)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

५. कर्मसंन्यासयोग

अर्जुन बोले– हे कृष्ण, आप कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों की प्रशंसा करते हैं. इन दोनों में एक, जो निश्चितरूप से कल्याणकारी हो, मेरे लिए कहिये. (५.०५ भी देखें) (५.०१) श्रीभगवान बोले– कर्मसंन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही परम कल्याणकारक हैं, परन्तु उन दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है. (५.०२) जो मनुष्य न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु की आकांक्षा करता है, वैसे मनुष्य को सदा संन्यासी ही समझना चाहिए; क्योंकि हे महाबाहो, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित मनुष्य सहज ही बन्धन-मुक्त हो जाता है. (५.०३)

दोनों मार्ग परमात्मा की ओर ले जाते हैं

अज्ञानी लोग ही, न कि पण्डितजन, कर्मसंन्यास और कर्मयोग को एक दूसरे से भिन्न समझते हैं, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक में भी अच्छी तरह से स्थित मनुष्य दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है. (५.०४) ज्ञानयोगियों द्वारा जो धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है. अतः जो मनुष्य कर्मसंन्यास और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही वास्तव में देखता (अर्थात् समझता) है. (६.०१, ६.०२ भी देखें) (५.०५) हे अर्जुन, कर्मयोग की निस्वार्थ सेवा के बिना शुद्ध संन्यास-भाव (अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन के भाव का त्याग) का प्राप्त होना कठिन है. सच्चा कर्मयोगी शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त करता है. (४.३१, ४.३८ भी देखें) (५.०६) निर्मल अन्तःकरण वाला कमयोगी, जिसका मन और इन्द्रियां उसके वश में है और जो सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है, कर्म करते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता. (५.०७)

कर्मयोगी प्रभु के लिये काम करता है

तत्त्वज्ञान को जानने वाला कर्मयोगी ऐसा समझता है कि मैं तो कुछ भी नहीं करता हूं. देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूंघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, देता, लेता, बोलता तथा आंखों को खोलता और बन्द करता हुआ भी वह ऐसा जानता है कि समस्त इन्द्रियां ही अपने-अपने विषयों में विचरण कर रही हैं. (३.२७, १३.२६, १४.१६ भी देखें) (५.०८-०६) **जो मनुष्य कर्मफल में आसक्ति का त्यागकर, सभी कर्मों को परमात्मा में अर्पण करता है, वह कमल के पत्ते की तरह पापरूपी जल से कभी लिप्त नहीं होता. (५.१०)** कर्मयोगी शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा आसक्ति को त्यागकर केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ही कर्म करते हैं. (५.११) **कर्मयोगी कर्मफल को त्यागकर (अर्थात् परमेश्वर को अर्पणकर) परम शान्ति को प्राप्त होता है और सकाम मनुष्य कर्मफल में आसक्ति के कारण बन्ध जाता है. (५.१२)**

आत्मज्ञान का मार्ग

कर्मयोगी सभी कर्मों (के फल) को सर्वथा त्यागकर – न कोई कर्म करता हुआ और न करवाता हुआ – नौ द्वार वाले शरीररूपी घर में सुख से रहता है. (५.१३) ईश्वर प्राणियों में कर्तापन, कर्म तथा कर्मफल के संयोग को वास्तव में नहीं रचता है. प्रकृति मां ही (अपने गुणों से) सब कुछ करवाती है. (५.१४) ईश्वर किसी के पाप और पुण्य कर्म का भागी नहीं होता. अज्ञान के द्वारा ज्ञान को ढक जाने के कारण ही सब जीव भ्रमित होते हैं (तथा पाप कर्म करते हैं). (५.१५) परन्तु जिनका अज्ञान तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है, उनका तत्त्वज्ञान सूर्य की तरह सच्चिदानन्द परमात्मा को प्रकाशित कर देता है. (५.१६) **जिनके मन और बुद्धि परमात्मा में स्थित है, परमात्मा में जिनकी निष्ठा है, ब्रह्म ही जिनका परम लक्ष्य है, ऐसे मनुष्य ज्ञान के द्वारा पापरहित होकर परमगति को प्राप्त होते हैं (अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता). (५.१७)**

आत्मज्ञानी के अन्य लक्षण

ज्ञानीजन (सबों में परमात्मा को ही देखने के कारण) विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण तथा गाय, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि सबों को समभाव से देखते हैं. (६.२९ भी देखें) (५.१८) ऐसे समदर्शी मनुष्यों ने इसी जीवन में ही संसार के सम्पूर्ण कार्यों को समाप्त कर लिया है. वे ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है. (१८.५५ तथा छा.उ. २.२३.०१ भी देखें) (५.१६) जो मनुष्य प्रिय को प्राप्तकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्तकर उद्विग्न न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि, संशयरहित और

ब्रह्म को जानने वाला मनुष्य परब्रह्म परमात्मा में नित्य स्थित रहता है. (५.२०) **ऐसा ब्रह्मयुक्त व्यक्ति – अपने अन्तःकरण में ब्रह्मानन्द को प्राप्तकर – इन्द्रियों के विषयों से अनासक्त हो जाता है और अविनाशी परम सुख का अनुभव करता है. (५.२१)** इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सुखों का आदि और अन्त होता है तथा वे (अन्त में) दुःख के कारण होते हैं. इसलिए हे कौन्तेय, बुद्धिमान् मनुष्य उनमें आसक्त नहीं होते. (१८.३८ भी देखें) (५.२२) जो मनुष्य मृत्यु से पहले काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ होता है, वही योगी है और वही सुखी है. (५.२३) जो योगी आत्मा में ही सुख पाता है, आत्मा में ही रमण करता है तथा आत्मज्ञानी है, वह ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है. (५.२४) जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सभी संशय ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुके हैं, जिनका मन वश में है और जो सभी प्राणियों के हित में रत रहते हैं, ऐसे ब्रह्मवेत्ता मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं. (५.२५) काम और क्रोध से रहित, जीते हुए चित्त वाले तथा आत्मज्ञानी यतियों को आसानी से ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है. (५.२६)

तीसरा मार्ग – भक्तिमय ध्यानयोग

विषयों का चिन्तन न करता हुआ, नेत्रों की दृष्टि को भौंहों के बीच में स्थित करके, नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके, जिसकी इन्द्रियां, मन और बुद्धि वश में है, जो मोक्ष परायण है तथा जो इच्छा, भय और क्रोध से सर्वथा रहित है, वह मुनि सदा मुक्त ही है. (५.२७-२८) मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर और समस्त प्राणियों का मित्र जानकर शान्ति को प्राप्त करता है. (५.२९)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

६. ध्यानयोग

कर्मयोगी भी संन्यासी है

श्रीभगवान बोले– जो मनुष्य केवल कर्मफल (के भोग) के लिए ही कर्म नहीं करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है, केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं होता तथा क्रियाओं का त्यागने वाला योगी नहीं होता. (६.०१) हे पाण्डव, जिसे संन्यास कहते हैं, उसी को तुम कर्मयोग समझो, क्योंकि स्वार्थ के त्याग के बिना मनुष्य कर्मयोगी नहीं हो सकता. (५.०१, ५.०५, ६.०१, १८.०२ भी देखें) (६.०२)

योग और योगी की परिभाषा

निष्काम कर्मयोग को समत्वयोग की प्राप्ति का साधन कहा गया है और योगारूढ़ साधक के लिए समत्व (अर्थात् मानसिक संतुलन, आत्मसंयम) ही ईश्वरप्राप्ति का साधन है. जब मनुष्य इन्द्रियों के भोगों में तथा कर्मफल में आसक्त नहीं रहता है, उस समय सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करने वाले (संतुलित) व्यक्ति को योगी कहते हैं. (६.०३-०४)

मन श्रेष्ठतम मित्र, और सबसे बड़ा शत्रु भी

मनुष्य अपने मन और बुद्धि द्वारा अपना उद्धार करे तथा अपना पतन न करे, क्योंकि मन ही मनुष्य का मित्र भी है और मन ही मनुष्य का शत्रु भी है. जिसने अपने मन और इन्द्रियों को बुद्धि द्वारा जीत लिया है, उसके लिए मन उसका मित्र होता है, परन्तु जिनकी इन्द्रियां वश में नहीं होतीं, उनके लिए मन शत्रु के समान आचारण करता है. (६.०५-०६) जिसने मन को अपने वश में कर लिया है, वह सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में शान्त रहता है, ऐसे जितेन्द्रिय मनुष्य का मन सदा परमात्मा में स्थित रहता है. (६.०७) ब्रह्मज्ञान और विवेक से परिपूर्ण, जितेन्द्रिय और समत्व बुद्धि वाला मनुष्य – जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है – परमात्मा से युक्त अर्थात् योगी कहलाता है. (६.०८) **जो मनुष्य सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, सम्बन्धियों, धर्मात्माओं और पापियों में भी समान भाव रखता है, वह श्रेष्ठ समझा जाता है. (६.०९)**

ध्यान के तरीके

आशारहित और स्वामित्वरहित साधक अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके, एकान्त स्थान में अकेला बैठकर, मन को निरन्तर परमात्मा के ध्यान में लगावे. (६.१०) साधक स्वच्छ भूमि के ऊपर क्रमशः

कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हुए अपने आसन पर — जो न बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा हो — बैठकर मन को परमात्मा में एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ध्यानयोग का अभ्यास करे. (६.११-१२) अपने शरीर, गले और सिर को अचल और सीधा रखकर, कहीं दूसरी ओर न देखते हुए, अपनी आंख और ध्यान को नासिका के अग्र भाग पर जमाकर, ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित, भयमुक्त तथा शान्त होकर, मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानकर, मुझ में ध्यान लगावे. (४.२६, ५.२७, ८.१०, ८.१२ भी देखें) (६.१३-१४) इस तरह सदा मन को परमात्मा में ध्यान लगाने का अभ्यास करता हुआ संयमित मन वाला योगी परम निर्वाणरूपी शान्ति (अर्थात् मुक्ति) प्राप्तकर मेरे पास आता है. (६.१५)

परन्तु हे अर्जुन, यह योग उस मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता, जो अधिक खाने वाला है या बिल्कुल न खाने वाला है तथा जो अधिक सोने वाला है या सदा जागने वाला है. (६.१६) समस्त दुःखों का नाश करने वाला यह योग नियमित आहार और विहार, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा तथा यथायोग्य सोने और जागने वाले को ही सिद्ध होता है. (६.१७) जब पूर्णरूप से वश में किया हुआ चित्त समस्त कामनाओं से रहित होकर परमात्मा में ही भलीभांति स्थित हो जाता है, तब मनुष्य योगी कहा जाता है. (६.१८) जिस तरह वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता; परमात्मा में लगे हुए योगी के समाहित चित्त की वैसी ही उपमा दी गयी है. (६.१९)

जब ध्यानयोग के अभ्यास से चित्त शान्त हो जाता है, तब साधक परमात्मा को (ध्यान से शुद्ध हुए मन और) बुद्धि द्वारा देखकर परमात्मा में ही संतुष्ट रहता है. (६.२०) योगी इन्द्रियों से परे, बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य, अनन्त सुख का अनुभव करता है; जिसे पाकर वह परमात्मा से कभी दूर नहीं होता. (कठो.उ. ३.१२ भी देखें) (६.२१) परमात्मा की प्राप्ति के बाद साधक उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है. इस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता है. (६.२२) दुःख के संयोग से वियोग ही योग कहलाता है, जिसे जानना चाहिए, तथा इस ध्यानयोग का अभ्यास उत्साह और निश्चयपूर्वक करना चाहिए. (६.२३) सम्पूर्ण सकाम कर्मों का परित्यागकर, बुद्धि द्वारा सभी इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में करके, अन्य कुछ भी चिन्तन न करता हुआ, धीरे-धीरे अभ्यस्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में लगाकर साधक शान्ति प्राप्त करता है. (६.२४-२५) **यह चंचल और अस्थिर मन जिन जिन विषयों में विचरण करे, उनसे हटाकर मनको परब्रह्म परमात्मा, श्रीकृष्ण, के चिन्तन और मनन में ही लगाना चाहिए. (६.२६)**

योगी कौन?

जिसका मन शान्त है और जिसकी (काम, क्रोध, लोभ आदि) रजोगुण प्रवृत्तियां नष्ट हो गयी हैं, ऐसे पापरहित ब्रह्मस्वरूप योगी को परम आनन्द प्राप्त होता है. (६.२७) ऐसा पापरहित योगी अपने मन को सदा परमेश्वर में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूपी परम आनन्द का अनुभव करता है. (६.२८) **योगयुक्त मनुष्य सबों में सर्वव्यापी परमात्मा को तथा परमात्मा में सबों को देखने के कारण समस्त प्राणियों को एक भाव से देखता है. (४.३५, ५.१८ भी देखें) (६.२९) जो मनुष्य सब जगह तथा सब में मुझ सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा (श्रीकृष्ण) को ही देखता है और सबको मुझ में ही देखता है, मैं उससे अलग नहीं रहता तथा वह भी मुझ से दूर नहीं होता. (६.३०)** जो मनुष्य अद्वैतभाव से सम्पूर्ण भूतों में मुझ परमात्मा को ही स्थित समझकर मेरी उपासना करता है, वैसा योगी, किसी भी हालत में क्यों न रहे, मुझ में ही स्थित रहता है. (६.३१) **हे अर्जुन, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है, जो सभी को अपने जैसा समझे और दूसरों के दुःख और पीड़ा का अनुभव कर सके. (६.३२)**

चंचल मन को नियंत्रित करने के दो उपाय

अर्जुन बोले— हे मधुसूदन, आपके द्वारा कहे गये ध्यानयोग की यह समत्व अवस्था — मन के चंचल होने के कारण — स्थायी नही हो सकती है; क्योंकि हे कृष्ण, यह मन बड़ा ही चंचल, दुष्ट, बलवान और दृढ़ है. अतः इसे वश में करना वायु को वश में करने की तरह कठिन है. (६.३३-३४) **श्रीभगवान बोले— हे महाबाहो, निस्सन्देह यह मन बड़ा ही चंचल और आसानी से वश में होने वाला नहीं है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र, मन को (ध्यान आदि का) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में किया जाता है.**

(६.३५) जिसका मन वश में नहीं है, उसके लिए परमात्मा की प्राप्ति कठिन है, परन्तु वश में किये हुए मन वाले प्रयत्नशील व्यक्ति को साधना करने से योग प्राप्त होना सहज है, ऐसा मेरा मत है. (६.३६)

असफल योगी की गति

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, श्रद्धालु, परन्तु असंयमी व्यक्ति, जो योग मार्ग से विचलित हो जाता है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को न प्राप्तकर किस गति को प्राप्त होता है? (६.३७) हे महाबाहो कृष्ण, क्या भगवत्प्राप्ति के मार्ग से गिरकर आश्रयरहित व्यक्ति (भोग और योग) दोनों से वंचित रहकर, छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? (६.३८) हे कृष्ण, मेरे इस संशय को सम्पूर्णरूप से दूर करने में आप ही समर्थ हैं, क्योंकि आपके सिवा काई दूसरा इस संशय को दूर करने वाला मिलना संभव नहीं है. (१५.१५ भी देखें) (६.३९) श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, योगी का न तो इस लोक में न परलोक में ही नाश होता है. हे तात, शुभ काम करने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है. (६.४०) असफल योगी पुण्यकर्म करने वालों के लोकों को प्राप्तकर, वहां बहुत समय तक रहकर फिर अच्छे आचरण वाले धनवान मनुष्यों अथवा ज्ञानवान योगियों के घर में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जन्म संसार में बहुत ही दुर्लभ है. (६.४१-४२) हे कुरुनन्दन अर्जुन, वहां उसे पूर्वजन्म में संग्रह किया हुआ ज्ञान अपने आप ही प्राप्त हो जाता है तथा वह योगसिद्धि के लिए फिर प्रयत्न करता है. (६.४३) **वह बेबस की तरह अपने पूर्वजन्म के संस्कारों के द्वारा परमात्मा की ओर सहज ही आकर्षित हो जाता है. भगवत्प्राप्ति के जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मफल की प्राप्ति से आगे का फल प्राप्तकर लेता है. (६.४४)** प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी पिछले अनेक जन्मों से धीरे धीरे शुद्ध होता हुआ सारे पापों से रहित होकर परमगति (अर्थात् मुक्ति) को प्राप्त होता है. (६.४५)

श्रेष्ठतम योगी कौन?

योगी (सकाम भाव वाले) तपस्वियों से भी श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है और सकाम कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ है. अतः हे अर्जुन तुम योगी बनो. (६.४६) **समस्त योगियों में भी जो योगीभक्त मुझ में तल्लीन होकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है, वही मेरे मत से सर्वश्रेष्ठ है. (१२.०२, १८.६६ भी देखें) (६.४७)**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

७. ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवान बोले— हे पार्थ, अनन्य प्रेम से मुझ में आसक्त मन वाले, मेरे आश्रित होकर अनन्य प्रेमभाव से योग का अभ्यास करते हुए तुम मुझे पूर्णरूप से निस्सन्देह कैसे जान सकोगे, उसे सुनो. (७.०१) मैं तुम्हें ब्रह्म अनुभूति (विज्ञान) सहित ब्रह्मविद्या (ज्ञान) प्रदान करूंगा, जिसे जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है. (मु.उ. १.०१.०३ भी देखें) (७.०२) हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करने वाले सिद्ध योगियों में भी कोई एक मुझे पूर्णरूप से जान पाता है. (७.०३)

प्रकृति, पुरुष, और आत्मा की परिभाषा

मेरी प्रकृति — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार तत्त्व — आठ प्रकार से विभाजित है. (१३.०५ भी देखें) (७.०४) **हे महाबाहो, उपरोक्त प्रकृति मेरी अपरा शक्ति है. इससे भिन्न मेरी एक दूसरी परा चेतन शक्ति (अर्थात् 'पुरुष') है, जिसके द्वारा यह जगत धारण किया जाता है. (७.०५) तुम ऐसा समझो कि इन दोनों शक्तियों — प्रकृति और पुरुष — के संयोग से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं; तथा मैं, परब्रह्म परमात्मा, ही सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति और प्रलय का स्रोत हूं. (१३.२६ भी देखें) (७.०६)**

परमात्मा सब वस्तुओं का आधार

हे धनंजय, मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है. यह सम्पूर्ण जगत मुझ परब्रह्म परमात्मारूपी सूत में (हार की) मणियों की तरह पिरोया हुआ है. (७.०७) हे अर्जुन, मैं जल में रस हूं, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूं, सब वेदों में ओंकार हूं, आकाश में शब्द और मनुष्यों में मनुष्यत्व हूं. मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध और

अग्नि में तेज हूं. सम्पूर्ण भूतों का जीवन और तपस्वियों में तप हूं. (७.०८-०९) हे पार्थ, सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझे ही जानो. मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूं. (६.१८, १०.३६ भी देखें). हे भरतश्रेष्ठ, मैं आसक्ति और कामना रहित बलवानों का बल हूं और मनुष्यों में धर्म के अनुकूल (सन्तान की उत्पत्ति के लिए) किये जाने वाला सम्भोग हूं. (७.१०-११) जो भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक गुण हैं, उन सबको तुम मुझसे ही उत्पन्न हुआ जानो. (अतः) वे (गुण) मुझपर निर्भर करते हैं, परन्तु मैं उनके आश्रित या उनसे प्रभावित नहीं होता हूं. (९.०४, ९.०५ भी देखें) (७.१२) प्रकृति के इन तीनों गुणों के कार्यों से यह सारा संसार भ्रमित रहता है, अतः मनुष्य इन गुणों से परे मुझ अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता है. (७.१३)

प्रभु की खोज किसको?

मेरी इस अलौकिक त्रिगुणमयी माया को पार करना बड़ा ही कठिन है; परन्तु जो मनुष्य मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को (आसानी से) पार कर जाते हैं. (१४. २६, १५.१९, १८.६६ भी देखें) (७.१४) पाप कर्म करने वाले, मूर्ख, आसुरी स्वभाव वाले नीच मनुष्य तथा माया के द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले मेरी शरण में नहीं आते हैं. (७.१५) **हे अर्जुन, चार प्रकार के उत्तम मनुष्य – दुःख से पीडित, परमात्मा को जानने की इच्छा वाले जिज्ञासु, धन या किसी इष्टफल की इच्छा वाले तथा ज्ञानी – मुझे भजते हैं. (तु.रा. १.२१.०३ भी देखें) (७.१६)** उन चार भक्तों में भी मुझ में निरन्तर लगा हुआ अनन्य भक्ति युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि मुझ परमात्मा को तत्त्व से जानने वाले ज्ञानी भक्त को मैं अत्यन्त ही प्रिय हूं और वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय है. (७.१७) उपरोक्त सभी भक्त श्रेष्ठ हैं, परन्तु मेरी समझ से तत्त्वज्ञ तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि युक्तात्मा उत्तम गति को प्राप्त कर मेरे परमधाम में निवास करता है. (६.२६ भी देखें) (७.१८) **अनेक जन्मों के बाद ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर कि "यह सब कुछ कृष्णमय है," मनुष्य मुझे प्राप्त करता है; ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है. (७.१९)** भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे मनुष्य अपने स्वभाव से प्रेरित होकर नियमपूर्वक देवताओं की पूजा करते हैं. (७.२०)

भक्ति के किसी भी वांछनीय रूप की मूर्ति में प्रभु का दर्शन सम्भव

जो कोई सकाम भक्त जिस किसी भी देवता को श्रद्धापूर्वक पूजना चाहता है, मैं उस भक्त की श्रद्धा को उसी देवता के प्रति स्थिर कर देता हूं. उस स्थिर श्रद्धा से युक्त वह मनुष्य अपने इष्ट देव की पूजा करता है और उस देवता के द्वारा इच्छित भोगों को निस्सन्देह प्राप्त करता है. वास्तव में वे इष्टफल मेरे द्वारा ही दिये जाते हैं. (७.२१-२२) परन्तु उन अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों को (नाशवान) देवताओं का दिया हुआ फल नाशवान होता है. देवताओं को पूजने वाले देवलोक को प्राप्त करते हैं तथा मेरे भक्त (परमधाम में आकर) मुझे ही प्राप्त करते हैं. (७.२३) **अज्ञानी मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के – मन, बुद्धि तथा वाणी से परे, परम अविनाशी – दिव्यरूप को नहीं जानने और समझने के कारण ऐसा मान लेते हैं कि मैं बिना रूप वाला निराकार हूं तथा रूप धारण करता हूं. (७.२४) जो मूढ़ मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के जन्मरहित, अविनाशी, दिव्यरूप को अच्छी तरह नहीं जान तथा समझ पाते हैं, उन सब के सामने – अपनी योगमाया से छिपा हुआ – मैं कभी प्रकट नहीं होता हूं. (७.२५)**

हे अर्जुन, मैं भूत, वर्तमान और भविष्य के सब प्राणियों को जानता हूं, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता. (७.२६) हे अर्जुन, राग और द्वेष से उत्पन्न (सुख-दुःखादि) द्वन्द्व द्वारा भ्रमित सभी प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त होते हैं; परन्तु निष्काम भाव से अच्छे कर्म करने वाले जिन मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो गये हैं, वे राग-द्वेष जनित भ्रम से मुक्त होकर दृढ़निश्चय कर मेरी भक्ति करते हैं. (७.२७-२८) जो मेरे शरणागत होकर जन्म और मरण से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे उस परब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सारे कर्मों को पूर्णरूप से जान जाते हैं. (७.२९) जो युक्तचित्त वाले मनुष्य – अन्त समय में भी – मुझे ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञरूप से जानते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं. (८.०४ भी देखें) (७.३०)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

८. अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन बोले– हे पुरुषोत्तम, ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत तथा अधिदैव किसे कहते हैं? अधियज्ञ कौन है तथा वह इस देह में कैसे रहता है? हे मधुसूदन, संयत चित्त वाले मनुष्य द्वारा अन्त समय में आप किस तरह जानने में आते हैं? (८.०१-०२)

ब्रह्म, आत्मा, जीवात्मा और कर्म की परिभाषा

श्रीभगवान बोले– परम अविनाशी आत्मा ही ब्रह्म है. ब्रह्म का स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है. प्राणियों को उत्पन्न करने वाली ब्रह्म की क्रिया-शक्ति को कर्म कहते हैं. (८.०३) हे श्रेष्ठ अर्जुन, नश्वर वस्तु को अधिभूत और अक्षरब्रह्म के विस्तार (नारायण आदि) को अधिदैव कहते हैं. इस शरीर में ईश्वररूप मैं, परब्रह्म परमात्मा, ही अधियज्ञ हूं. (८.०४)

पुनर्जन्म का सिद्धान्त और कर्म

जो मनुष्य अन्तकाल में भी मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मुझे ही प्राप्त होता है. इसमें सन्देह नहीं है. (प्र.उ. ३.१० भी देखें) (८.०५) **हे अर्जुन, मनुष्य मरने के समय जिस किसी भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह सदा उस भाव के चिन्तन करने के कारण उसी भाव को प्राप्त होता है. (छा.उ. ३.१४.०१ भी देखें) (८.०६)**

प्रभु-प्राप्ति का सहज मार्ग

इसलिए हे अर्जुन, तुम सदा मेरा स्मरण करो और अपना कर्तव्य करो. इस तरह मुझ में अर्पण किए मन और बुद्धि से युक्त होकर निस्सन्देह तुम मुझको ही प्राप्त होगे. (१२.०८ भी देखें) (८.०७) हे पार्थ, परमात्मा के ध्यान के अभ्यासरूपी योग से युक्त, एकाग्र चित्त से परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करता हुआ साधक परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है. (८.०८) जो भक्त सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से सूक्ष्म, सबका पालन पोषण करने वाला, अचिन्त्यरूप, सूर्य के समान प्रकाशित तथा अविद्या से परे परमात्मा का सदा स्मरण करता है, वह अचल मन से योगबल के द्वारा प्राण को भृकुटी के बीच में अच्छी तरह से स्थापित करके शरीर छोड़ने पर परमात्मा को प्राप्त करता है. (कठो.उ. २.२०, यजु.वे. ३१.१८ तथा गीता ४.२६, ५.२७, ६.१३ भी देखें) (८.०९-१०) वेद के जानने वाले विद्वान् जिसे अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील महात्मा जिसे प्राप्त करते हैं और जिस परमपद की प्राप्ति के लिए साधक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उसे मैं तुम्हें संक्षेप में कहूंगा. (कठो.उ. २.१५ भी देखें) (८.११)

मृत्युकाल में प्रभु-ध्यान से मोक्ष-प्राप्ति

जो साधक सब इन्द्रियों को वश में करके, मन को परमात्मा में और प्राण को मस्तक में स्थापित कर तथा योगधारणा में स्थित होकर अक्षरब्रह्म की ध्वनि-शक्ति, ओंकार, का उच्चारण करके मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह परमगति को प्राप्त होता है. (८.१२-१३) हे अर्जुन, जो मुझ में ध्यान लगाकर नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सहज ही प्राप्त होता हूं. (८.१४) महात्मा लोग परम सिद्धिरूपी मुझे प्राप्त करने के बाद फिर इस नश्वर दुःख भरे सन्सार में पुनर्जन्म नहीं लेते. (८.१५) हे अर्जुन, ब्रह्मलोक और उसके नीचे के सभी लोकों के प्राणियों का पुनर्जन्म होता है; परन्तु हे कुन्ती पुत्र, मेरा लोक अर्थात् परमधाम प्राप्त होने पर मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता. (९.२५ भी देखें) (८.१६)

सृष्टि में सब कुछ आवर्ती है

जो लोग यह जानते हैं कि ब्रह्माजी के एक दिन की अवधि एक हजार युग (अर्थात् ४.३२ अरब वर्ष) है तथा उनकी एक रात की अवधि भी एक हजार युग है, वे दिन और रात को जानने वाले हैं. (८.१७) ब्रह्माजी के दिन के आरम्भ में अव्यक्त अक्षर ब्रह्म (अर्थात् आदि प्रकृति) से सारा जगत उत्पन्न होता है, तथा ब्रह्माजी की रात्रि के आने पर जगत उस अव्यक्त में ही विलीन हो जाता है. (८.१८) **हे पार्थ, वही प्राणिसमुदाय अवश जैसा हुआ बार-बार ब्रह्माजी के दिन में उत्पन्न तथा ब्रह्माजी के रात्रि में विलीन होता रहता है. (८.१९)** परन्तु इस क्षर प्रकृति से परे एक दूसरी अविनाशी आदि प्रकृति है, जो सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती. उसी को अव्यक्त अक्षरब्रह्म अर्थात् परमगति कहा गया है,

वही मेरा परमधाम है, जिसे प्राप्तकर मनुष्य आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो जाता है. (८.२०-२१) हे पार्थ, सभी प्राणी जिस परमात्मा के अन्दर हैं तथा जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा अनन्यभक्ति से ही प्राप्त होता है. (६.०४, ११.५५ भी देखें) (८.२२)

संसार से जाने के दो प्रमुख मार्ग

हे भरतकुल श्रेष्ठ, जिस मार्ग द्वारा शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन वापस न लौटने वाली गति को और वापस लौटने वाली गति को प्राप्त होते हैं, उन दोनों मार्गों को मैं तुम्हें बताऊंगा. (८.२३) जो ब्रह्मविद् साधकजन अग्नि, प्रकाश, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः मास वाले (ज्ञान का प्रकाश) मार्ग द्वारा जाते हैं, वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं (तथा पुनः संसार में वापस नहीं आते हैं). (छा.उ. ४.१५.०५, ५.१०.०१, बृह.उ. ६.२.१५, प्र.उ.१.१० तथा ईशा.उ. १८ भी देखें) (८.२४) धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मास वाले (अज्ञान) मार्ग से जाने वाला सकाम योगी स्वर्ग जाकर पुनः वापस आता है. (छा.उ. ५.१०.०३-०५, ब्र.सू. ३.०१.०८ तथा गीता ६.२१ भी देखें) (८.२५) **जगत में ये दो – शुक्ल और कृष्ण (अर्थात् ज्ञान और अज्ञान) – सनातन मार्ग माने गये हैं. इनमें ज्ञान मार्ग के द्वारा जाने वालों को लौटना नहीं पड़ता और अज्ञान मार्ग वालों को लौटना पड़ता है. (८.२६)**

आत्मज्ञान से मुक्ति

हे पार्थ, इन दो मार्गों को तत्त्व से जानने वाला कोई भी योगी भ्रमित नहीं होता. इसलिए हे अर्जुन, तुम सदा योगयुक्त रहो. (८.२७) योगी इस अध्याय को समझकर वेदों में, यज्ञों में, तपों में तथा दान में जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सबका उल्लंघन कर जाता है और परब्रह्म परमात्मा के परमधाम को प्राप्त करता है. (८.२८)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥

९. राजविद्याराजगुह्ययोग

ब्रह्म का तत्त्वज्ञान परम रहस्य है

श्रीभगवान बोले– तुम दोषदृष्टि रहित भक्त के लिये मैं इस परम गुह्य ब्रह्मविद्या (ज्ञान) को ब्रह्म अनुभूति (विज्ञान) सहित कहता हूं, जिसे जानकर तुम जन्म-मरण दुःखरूपी संसार से मुक्त हो जाओगे. (६.०१) यह तत्त्वज्ञान सब विद्याओं का राजा, रहस्यमय, अत्यन्त पवित्र, प्रत्यक्ष फल वाला, धर्मयुक्त, साधन में सुगम तथा अविनाशी है. (६.०२) हे परन्तप अर्जुन, इस धर्म में श्रद्धा न रखने वाले मनुष्य मुझे न प्राप्त होकर मृत्युरूपी संसार में बारम्बार जन्म लेते हैं. (६.०३) **यह सारा संसार मुझ परब्रह्म परमात्मा की आदि प्रकृति अर्थात् अव्यक्त अक्षरब्रह्म का विस्तार है. सभी मुझपर आश्रित या स्थित रहते हैं, मैं उनपर आश्रित नहीं रहता. (७.१२ भी देखें) (९.०४) मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देखो कि वास्तव में मैं – सभी भूतों को उत्पन्न तथा पोषण करने वाला – उनपर आश्रित नहीं रहता तथा वे सब भी मुझपर आश्रित नहीं रहते. (भा.पु. २.०९.३४-३६ भी देखें) (९.०५) जैसे सर्वत्र विचरण करने वाली महान् वायु सदा आकाश में (बिना कोई सहारा लिये) स्थित रहती है, वैसे ही सभी मुझ में स्थित रहते हैं, ऐसा समझो. (९.०६)**

सृष्टि-रचना और प्रलय का सिद्धान्त

हे अर्जुन, एक कल्प के अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि मेरी आदि प्रकृति में लय हो जाती है और दूसरे कल्प के प्रारम्भ में मैं फिर उसकी रचना करता हूं. (६.०७) मैं अपनी मायारूपी प्रकृति के द्वारा इन समस्त प्राणि समुदाय को – जो प्रकृति (के गुणों) के वश में रहते हैं – बार-बार रचता हूं. (६.०८) हे अर्जुन, सृष्टि की रचना आदि कर्मों में अनासक्त और उदासीन रहने के कारण वे कर्म मुझ (परमात्मा) को नहीं बांधते. (६.०६) हे अर्जुन, मेरी अध्यक्षता में माया देवी (अपनी प्रकृति के द्वारा) चराचर जगत को उत्पन्न करती है. इस तरह सृष्टि-चक्र चलता रहता है. (१४.०३ भी देखें) (६.१०)

ज्ञानी और अज्ञानी के मार्ग

मुझ परमेश्वर के परम भाव को नहीं जानने के कारण – जब मैं मनुष्य का शरीर धारण करता हूं – मूढ़ लोग (मुझे साधारण मनुष्य समझकर) मेरा अनादर करते हैं, क्योंकि वे राक्षसी और आसुरी स्वभाव से मोहित, वृथा आशा, वृथा कर्म तथा वृथा ज्ञान वाले अविचारी मनुष्य (मुझे नहीं पहचान पाते) हैं. (६.११-१२)

परन्तु हे अर्जुन, दैवी स्वभाव वाले महात्मा लोग मुझे अविनाशी तथा सम्पूर्ण प्राणियों का कारण समझकर अनन्य मन से मेरी भक्ति करते हैं. (९.१३) मेरा सतत कीर्तन करते हुए, प्रयत्नशील, दृढ़व्रती साधक मुझे नमस्कार करके भक्तिपूर्वक निरन्तर मेरी उपासना करते हैं. (९.१४) कोई साधक ज्ञानयज्ञ के द्वारा, कोई अद्वैतभाव से, दूसरे द्वैतभाव से तथा कोई अनेक प्रकार से पूजा करके मुझ विराट्स्वरूप परमेश्वर की उपासना करते हैं. (९.१५)

सब कुछ परमात्मा का ही विस्तार है

धार्मिक संस्कार मैं हूं, यज्ञ मैं हूं, स्वधा मैं हूं, औषधि मैं हूं, मंत्र मैं हूं, घी मैं हूं, अग्नि मैं हूं तथा हवन कर्म भी मैं ही हूं. (४.२४ भी देखें). मैं ही इस जगत का पिता, माता, धारण करने वाला और पितामह हूं. मैं ही जानने योग्य वस्तु हूं; पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं. प्राप्त करने योग्य परमधाम, भरण करने वाला, सबका स्वामी, साक्षी, निवासस्थान, शरण लेने योग्य, मित्र, उत्पत्ति, प्रलय, आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूं. (७.१०, १०.३६ भी देखें) (९.१६-१८) हे अर्जुन, मैं ही (संसार के हित के लिए) सूर्यरूप से तपाता हूं, मैं वर्षा का निग्रह और उत्सर्जन करता हूं. अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूं. (१३.१२ भी देखें) (९.१९)

अनन्य प्रेम-भक्ति द्वारा मोक्ष-प्राप्ति

तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म करने वाले, (भक्तिरूपी) सोमरस पान करने वाले, पापरहित मनुष्य मुझे यज्ञ के द्वारा पूजकर स्वर्ग प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं, वे अपने पुण्यों के फलरूप इन्द्रलोक को प्राप्त कर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं (९.२०) वे लोग उस विशाल स्वर्गलोक के भोगों को भोगकर, पुण्य समाप्त होने पर फिर मृत्युलोक में आते हैं. इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म करने वाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं. (८.२५ भी देखें) (९.२१) **जो भक्तजन अनन्य भावसे चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं. (९.२२)** हे कुन्तीनन्दन अर्जुन, जो भक्त श्रद्धापूर्वक दूसरे देवी-देवताओं को पूजते हैं, वे भी मेरा ही पूजन करते हैं — पर अज्ञानपूर्वक. (९.२३) क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं — परब्रह्म परमात्मा — ही हूं; परन्तु वे मुझ (परमेश्वर के अधियज्ञ स्वरूप) को तत्त्व से नहीं जानते, इसीसे उनका पतन अर्थात् आवागमन होता है. (९.२४) देवताओं को पूजने वाले देवलोक जाते हैं, पितरों को पूजने वाले पितृलोक जाते हैं, भूत-प्रेतों को पूजने वाले भूत-प्रेतों के लोक को जाते हैं तथा मेरी पूजा करने वाले भक्त मेरे परमधाम को जाते हैं (और उनका पुनर्जन्म नहीं होता). (८.१६ भी देखें) (९.२५) **जो मनुष्य प्रेमभक्ति से पत्र, फूल, फल, जल आदि कोई भी वस्तु मुझे अर्पण करता है, तो मैं उस शुद्धचित्त वाले भक्त का वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि उसका भोग भी करता हूं. (भा.पु. १०.८१.०४ भी देखें) (९.२६) हे अर्जुन, तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो दान देते हो, जो तप करते हो, वह सब मुझे ही अर्पण करो. (१२.१०, १८.४६ भी देखें) (९.२७)** इस प्रकार संन्यासयोगयुक्त होकर कार्य करने से तुम कर्मफल के शुभ और अशुभ दोनों बन्धनों से मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त करोगे. (९.२८)

कोई अक्षम्य पापी नहीं

सभी प्राणी मेरे लिए बराबर हैं. न मेरा कोई अप्रिय है और न प्रिय; परन्तु जो श्रद्धा और प्रेम से मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे समीप रहते हैं और मैं भी उनके निकट रहता हूं. (७.१८ भी देखें) (९.२९) यदि कोई बड़े-से-बड़ा दुराचारी भी अनन्य भक्ति-भाव से मुझे भजता है, तो उसे भी साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उसने यथार्थ निश्चय किया है. (९.३०) और वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है तथा परम शान्ति को प्राप्त होता है. हे अर्जुन, तुम यह निश्चयपूर्वक सत्य मानो कि मेरे भक्त का कभी भी विनाश अर्थात् पतन नहीं होता है. (९.३१)

भक्तिमार्ग अन्य मार्गों से सहज

हे अर्जुन, स्त्री, वैश्य, शूद्र, पापी आदि जो कोई भी मेरी शरण में आते हैं, वे सभी परमधाम को प्राप्त करते हैं. (१८.६६ भी देखें) (९.३२) फिर पुण्यशील ब्राह्मणों और राजर्षि भक्तजनों का तो कहना ही क्या? इसलिए यह क्षणभंगुर और सुखरहित मनुष्य शरीर पाकर तुम निरन्तर मेरा ही भजन करो. (९.३३) **मुझ में**

मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे प्रणाम करो. इस प्रकार मुझे अपना परम लक्ष्य मानकर अपने-आप को मुझ से युक्त करके तुम मुझे ही प्राप्त होगे. (९.३४)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

१०. विभूतियोग

परमात्मा सब वस्तुओं का मूल है

श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, मेरे परम वचन को तुम फिर सुनो, जिसे मैं तुम जैसे अतिशय प्रेम रखने वाले के हित के लिए कहूंगा. (१०.०१) मेरी उत्पत्ति को देवता, महर्षि आदि कोई भी नहीं जानते हैं; क्योंकि मैं सभी देवताओं और महर्षियों का भी आदिकारण हूं. (१०.०२) जो मुझे अजन्मा, अनादि और समस्त लोकों के महान् ईश्वर के रूप में जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है और सब पापों से मुक्त हो जाता है. (१०.०३) बुद्धि, ज्ञान, भ्रम का अभाव, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय संयम, मन संयम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, प्रलय, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश आदि प्राणियों के अनेक प्रकार के भाव मुझसे ही प्रकट होते हैं. (१०.०४-०५) सात महर्षि, उनसे पहले चार सनकादि तथा चौदह मनु ये सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में ये सारी प्रजा हैं. (१०.०६) जो मनुष्य मेरी इस विभूति और योगमाया को तत्त्व से जानता है, वह अविचल भक्तियोग से युक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है. (१०.०७) **मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूं और मुझ से ही जगत का विकास होता है. ऐसा जानकर बुद्धिमान् भक्तजन श्रद्धापूर्वक मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं. (१०.०८)** मुझ में ही चित्त को स्थिर रखने वाले और मेरी शरण में आने वाले भक्तजन आपस में मेरे गुण, प्रभाव आदि का कथन करते हुए निरन्तर संतुष्ट रहकर रमते हैं. (१०.०९)

प्रभु भक्तों को ज्ञान देता है

निरन्तर मेरे ध्यान में लगे प्रेमपूर्वक मेरा भजन करने वाले भक्तों को मैं ब्रह्मज्ञान और विवेक देता हूं, जिससे वे मुझे प्राप्त करते हैं. (१०.१०) उनपर कृपा करके उनके अन्तःकरण में रहने वाला, मैं, उनके अज्ञानजनित अन्धकार को तत्त्वज्ञानरूपी दीपक द्वारा नष्ट कर देता हूं. (१०.११) अर्जुन बोले— आप परमब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र हैं; आप शाश्वत दिव्य पुरुष आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं; ऐसा देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आदि समस्त ऋषिजन तथा स्वयं आप भी मुझसे कहते हैं. (१०.१२-१३)

ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप कोई नहीं जान सकता

हे केशव, मुझसे आप जो कुछ कह रहे हैं इन सबको मैं सत्य मानता हूं. हे भगवन्, आपके वास्तविक स्वरूप को न देवता जानते हैं और न दानव. (४.०६ भी देखें) (१०.१४) **हे प्राणियों को उत्पन्न करने वाले, हे भूतेश, हे देवों के देव, जगत के स्वामी, पुरुषोत्तम, केवल आप स्वयं ही अपने आपको जानते हैं. (१०.१५)** अतः अपनी उन दिव्य विभूतियों को — जिनसे आप इन सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त होकर स्थित रहते है — पूर्णरूपसे वर्णन करने में केवल आप ही समर्थ हैं. (१०.१६) हे योगेश्वर, मैं आपको निरन्तर चिन्तन करता हुआ कैसे जानूं और हे भगवन्, किन-किन भावों द्वारा मैं आपका चिन्तन करूं? (१०.१७) हे जनार्दन, आप अपनी योगशक्ति एवं विभूतियों को विस्तारपूर्वक फिर से कहिए, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है. (१०.१८)

सम्पूर्ण सृष्टि परब्रह्म का विस्तार है

श्रीभगवान बोले— हे कुरुश्रेष्ठ, अब मैं अपनी प्रमुख दिव्य विभूतियों को तेरे लिए संक्षेप में कहूंगा, क्योंकि मेरे विस्तार का तो अन्त ही नहीं है. (१०.१९) हे अर्जुन, मैं समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित आत्मा हूं तथा सम्पूर्ण भूतों के आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूं. (१०.२०) मैं अदिति के (बारह) पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में प्रकाशमान् सूर्य हूं, वायु देवताओं में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूं. (१०.२१) मैं वेदों में सामवेद हूं, देवों में इन्द्र हूं, इन्द्रियों में मन हूं और प्राणियों की चेतना हूं. (१०.२२) मैं रुद्रों में शंकर हूं और यक्ष तथा राक्षसों में धनपति कुबेर हूं, वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूं. (१०.२३) हे पार्थ, मुझे पुरोहितों में उनका मुखिया बृहस्पति जानो. मैं सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में समुद्र हूं. (१०.२४) मैं महर्षियों में भृगु और शब्दों में ओंकार हूं. मैं यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय पर्वत हूं. (१०.२५)

दैवी विभूतियों का संक्षिप्त वर्णन

मैं समस्त वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूं. (१०.२६) मैं अश्वों में अमृत के साथ समुद्र से प्रकट हुए उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा, शस्त्रों में वज्र, गायों में कामधेनु, संतान की उत्पत्ति के लिए कामदेव और सर्पों में वासुकि हूं. (१०.२७-२८) मैं नागों में शेषनाग, जल देवताओं में वरुण, पितरों में अर्यमा और शासकों में यमराज; दिति के वंशजों में प्रह्लाद, गणना करने वालों में समय, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूं. (१०.२९-३०) मैं पवित्र करने वालों में वायु हूं और शस्त्रधारियों में राम हूं, जलचरों में मगर और नदियों में पवित्र गंगा नदी हूं. (१०.३१) हे अर्जुन, सारी सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त भी मुझसे ही होता है. मैं विद्याओं में तारतम्य विद्या और विवाद करने वालों का तर्क हूं. (१०.३२) मैं अक्षरों में अकार और समासों में द्वन्द्व समास हूं. अक्षयकाल अर्थात् अकाल पुरुष तथा विराट्स्वरूप से सबका पालन-पोषण करने वाला भी मैं ही हूं. (१०.३३) मैं सबका नाश करने वाली मृत्यु और भविष्य में होने वालों की उत्पत्ति का कारण हूं. संसार की सात श्रेष्ठ देवियां, जो कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा की अधिष्ठात्रियां हैं, वे भी मैं ही हूं. (१०.३४) मैं सामवेद के गाये जाने वाले मंत्रों में बृहत्साम, वैदिक छन्दों में गायत्री छन्द, महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त ऋतु हूं. (१०.३५)

मैं छलियों में जुआ, तेजस्वियों का तेज, तथा विजय, निश्चय और सात्त्विक मनुष्यों का सात्त्विक भाव हूं. (१०.३६) मैं वृष्णि वंशियों में कृष्ण, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य हूं. (१०.३७) मैं दमन करने वालों में दण्डनीति और विजय चाहने वालों में नीति हूं. मैं गोपनीय भावों में मौन और ज्ञानियों का तत्त्वज्ञान हूं. (१०.३८) हे अर्जुन, समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का बीज मैं ही हूं, क्योंकि चर और अचर किसी का अस्तित्व मेरे बिना नहीं है (अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है). (७.१०, ९.१८ भी देखें) (१०.३९)

सृष्टि परब्रह्म का लघुतम अंश मात्र है

हे अर्जुन, मेरी दिव्य विभूतियों का तो अन्त ही नहीं है. मैंने तुम्हें अपनी विभूतियों के विस्तार का वर्णन संक्षेप में कहा है. (१०.४०) जो भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उसे तुम मेरे तेज के एक अंश से ही उत्पन्न हुई समझो. (१०.४१) हे अर्जुन, तुम्हें बहुत जानने की क्या आवश्यकता है? मैं अपने तेज अर्थात् योगमाया के एक अंशमात्र से ही सम्पूर्ण जगत को धारण करके स्थित रहता हूं. (छा.उ. ३.१२.०६ भी देखें) (१०.४२)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

११. विराट्रूपदर्शनयोग

प्रभुदर्शन भक्त का परम ध्येय

अर्जुन बोले— आपने मुझपर कृपा करके जिस परम गोपनीय अध्यात्मतत्त्व को कहा, उससे मेरा भ्रम नष्ट हो गया है. (११.०१) हे कमलनयन कृष्ण, मैंने आपसे प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय तथा आपके अविनाशी माहात्म्य को विस्तारपूर्वक सुना. (११.०२) **हे परमेश्वर, आप अपने को जैसा कहते हैं, वह ठीक है; परन्तु हे पुरुषोत्तम, मैं आपके ईश्वरीयरूप को अपनी आंखों से देखना चाहता हूं. (११.०३)** हे प्रभो, यदि आप समझें कि मेरे द्वारा आपका विराट्रूप देखा जाना संभव है; तो हे योगेश्वर, आप अपने दिव्य विराट्रूप का दर्शन दें. (११.०४) श्रीभगवान बोले— हे पार्थ, अब तुम मेरे अनेक तरह के और अनेक रंग तथा आकृति वाले सैकड़ों-हजारों दिव्यरूपों को देखो. (११.०५) हे भारत, मुझ में आदित्यों, वसुओं, रुद्रों तथा अश्विनी कुमारों और मरुद्गणों को देखो तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यजनक रूपों को भी देखो. (११.०६) हे अर्जुन, अब मेरे शरीर में एक ही जगह पर स्थित हुए चर और अचर सहित सारे जगत को तथा और जो कुछ देखना चाहते हो, उसे भी देख लो. (११.०७) **परन्तु तुम अपनी इन आंखों से मुझे नहीं देख सकते हो, इसलिए मेरी योगशक्ति को देखने के लिए मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूं. (११.०८)**

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को अपने विराट विश्वरूप का दर्शन कराना

संजय बोले– हे राजन्, महायोगेश्वर हरि ने ऐसा कहकर अर्जुन को अपने ऐश्वर्ययुक्त परम दिव्यरूप का दर्शन कराया. (११.०६) अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण के अनेक मुख और नेत्रों वाले, अनेक अद्भुत दृश्य वाले, अनेक दिव्य आभूषणों से युक्त, बहुत सारे दिव्य शस्त्रों को हाथों में लिए हुए, दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए, दिव्य गन्ध का लेपन किये हुए, समस्त प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, अनन्त विराट्स्वरूप का दर्शन किया. (११.१०-११) आकाश में हजारों सूर्यों के एक साथ उदय होने पर उत्पन्न प्रकाश भी उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के समान शायद ही हो. (११.१२) उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देवों के देव श्रीकृष्ण भगवान के दिव्य शरीर में – अनेक प्रकार के विभागों में विभक्त परन्तु एक ही जगह एकत्रित – सम्पूर्ण जगत को देखा. (१३.१६, १८.२० भी देखें) (११.१३)

प्रभु-दर्शन के सब योग्य नहीं, न सब दीक्षित

(भगवान के विराट्स्वरूप को देखकर) अर्जुन बहुत चकित हुए और आश्चर्य के कारण उनका शरीर पुलकित हो गया. अर्जुन ने हाथ जोड़कर विराट्रूप देव को (श्रद्धा और भक्ति सहित) सिर झुकाकर प्रणाम करके कहा. (११.१४) अर्जुन बोले– हे देव, मैं आपके शरीर में समस्त देवताओं को, प्राणियों के अनेक समुदायों को, कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी, महादेवजी, समस्त ऋषिगण और दिव्य सर्पों को देख रहा हूं. (११.१५) **हे विश्वेश्वर, आपको मैं अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूं. हे विश्वरूप, मैं आपके न अन्त को देखता हूं, न मध्य को और न आदि को ही. (११.१६)** मैं आपके मुकुट, गदा और चक्र धारण किये सब ओर से प्रकाशमान तेज के पुंज जैसा; प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान ज्योति वाले तथा नेत्रों द्वारा देखने में अत्यन्त कठिन और अपरिमित रूप को देख रहा हूं. (११.१७)

आप ही जानने योग्य अक्षरातीत परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस विश्व के परम आश्रय हैं, आप ही सनातन धर्म के रक्षक हैं, आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है. (११.१८) मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित तथा अनन्त प्रभावशाली और अनन्त भुजाओं वाले तथा चन्द्रमा और सूर्य की तरह नेत्रों वाले और प्रज्वलित अग्निरूपी मुखों वाले तथा अपने तेज से विश्व को तपाते हुए देख रहा हूं. (११.१६) हे महात्मन्, स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का यह सम्पूर्ण आकाश तथा समस्त दिशाएं केवल आपसे ही व्याप्त हैं. आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक भयभीत हो रहे हैं. (११.२०) समस्त देवताओं के समूह आप में प्रवेश कर रहे हैं; और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम और गुणों का कीर्तन कर रहे हैं. महर्षियों और सिद्धों के समुदाय "कल्याण हो, कल्याण हो" कहकर उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं. (११.२१) रुद्र आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनी कुमार, मरुत, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण – ये सब चकित होकर आपको देख रहे हैं. (११.२२) हे महाबाहो, आपके बहुत मुखों तथा नेत्रों वाले, बहुत भुजाओं, जंघाओं तथा पैरों वाले, बहुत पेटों तथा बहुत-सी भयंकर दाढ़ों वाले महान् रूप को देखकर सब प्राणी व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूं. (११.२३)

विराट विश्वरूप दर्शन से अर्जुन को भय

हे विष्णु, आकाश को छूते हुये देदीप्यमान, अनेक रंगों वाले फैले हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर मैं भयभीत हो रहा हूं तथा धीरज और शान्ति नहीं पा रहा हूं. (११.२४) आपके विकराल दाढ़ों वाले, प्रलय की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मुझे न तो दिशाओं का ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है. इसलिए हे देवेश, हे जगत के पालन कर्ता, आप प्रसन्न हों. (११.२५) राजाओं के समुदाय – भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्ष के प्रधान योद्धागण – सहित धृतराष्ट्र के सभी पुत्र बड़ी तेजी से आपके विकराल दाढ़ों वाले भयानक मुखों में प्रवेश कर रहे हैं. उनमें से कुछ तो चूर्णित शिरों सहित आपके दांतों के बीच में फंसे हुए दीख रहे हैं. (११.२६-२७) जैसे नदियों के बहुत सारे जल के प्रवाह स्वाभाविक रूप से समुद्र की ओर जाते हैं, वैसे ही संसार के शूरवीर भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं. (११.२८) जैसे पतंगे अपने नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं. (११.२६) आप सब लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रास करते हुए सब ओर से चाट रहे हैं; और हे विष्णु, आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत को परिपूर्ण करके तपा रहा है.

(११.३०) (कृपया) मुझे यह बतायें कि उग्ररूप वाले आप कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ, आपको मेरा नमस्कार, आप मुझसे प्रसन्न हों. हे आदि पुरुष, मैं आपको तत्त्व से जानना चाहता हूं, क्योंकि मैं आपका प्रयोजन नहीं समझ पा रहा हूं. (११.३१)

हम सब दैवी निमित्त मात्र

श्रीभगवान बोले— मैं सम्पूर्ण लोकों का नाश करने वाला महाकाल हूं और इस समय इन सब लोगों का संहार करने के लिए यहां आया हूं. तुम्हारे प्रतिपक्ष में जो योद्धा लोग खड़े हैं, वे सब तुम्हारे युद्ध किए बिना भी जिन्दा नहीं रहेंगे. (११.३२) अतः तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ और यश को प्राप्त करो; शत्रुओं को जीतकर सम्पन्न राज्य भोगो. ये सब योद्धा पहले से ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं. हे अर्जुन, तुम केवल निमित्त ही बनो. (११.३३) द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी बहुत सारे मेरे द्वारा मारे हुए वीर योद्धाओं को तुम मारो. भय मत करो, निस्सन्देह तुम युद्ध में शत्रुओं को जीतोगे. इसलिए युद्ध करो. (११.३४)

अर्जुन द्वारा विश्वरूप की वन्दना

संजय बोले— भगवान कृष्ण के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी और अत्यन्त भयभीत अर्जुन ने हाथ जोड़कर कांपते हुए नमस्कार करके गद्‌गद वाणी से श्रीकृष्ण से कहा. (११.३५) अर्जुन बोले— हे अन्तर्यामी भगवन्, यह सब उचित ही है कि आपके (नाम, गुण, लीला आदि का) कीर्तन से जगत हर्षित होकर अनुराग को प्राप्त हो रहा है. भयभीत राक्षस लोग सभी ओर भाग रहे हैं तथा सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं. (११.३६) हे महात्मा, वे आपको — जो ब्रह्माजी से भी बडे औऱ आदिकर्ता हैं — कैसे नमस्कार न करें? क्योंकि हे अनन्त, हे देवेश, हे जगत के पालनकर्ता; जो सत्, असत् और इन दोनों से परे परब्रह्म है, वह आप ही हैं. (९.१९, १३.१२ भी देखें) (११.३७) आप ही आदिदेव और सनातन पुरुष हैं. आप ही जगत के आधार, सबको जानने वाले, जानने योग्य तथा परमधाम हैं. हे अनन्तरूप, यह सारा संसार आपसे ही व्याप्त है. (११.३८) आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति ब्रह्मा और ब्रह्मा के पिता भी हैं. आपको हमारा सहस्र बार नमस्कार, नमस्कार और फिर बारम्बार नमस्कार है. (११.३९) हे अनन्त सामर्थ्य वाले भगवन्, आपको आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार. हे सर्वात्मन्, आपको सब ओर से नमस्कार. आप अनन्त साहसी और शक्तिशाली हैं. सबमें व्याप्त रहने के कारण सब कुछ तथा सब जगह आप ही हैं. (११.४०)

हे भगवन्, आपकी महिमा को न जानने के कारण, आपको सखा मानकर, प्रेम से अथवा लापरवाही से मैंने "हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे," आदि कहा है. (११.४१) और हे अच्युत, आप मेरे द्वारा हंसी में, खेलने, सोने, बैठने और भोजन के समय — अकेले में अथवा दूसरों के सामने भी — जो अपमानित किए गए हैं, उन सब के लिए हे अपरिमित भगवन्, मैं आपसे क्षमा मांगता हूं. (११.४२) आप इस चराचर जगत के पिता और सर्वश्रेष्ठ पूज्यनीय गुरु हैं. हे अतिशय प्रभाव वाले, तीनों लोकों में आपके जैसा दूसरा कोई भी नहीं है, फिर आपसे बड़ा कौन है ? (११.४३) इसलिए हे भगवन्, मैं आपके चरणों में साष्टांग प्रणाम करके आपको प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करता हूं. हे देव, जैसे पिता पुत्र के, मित्र अपने मित्र के और पति पत्नी के अपराध को क्षमा करता है, वैसे ही आप भी मेरे अपराधों को क्षमा कीजिए. (११.४४) मैं आपके पहले कभी नहीं देखे जाने वाले इस रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूं तथा भय से मेरा मन अत्यन्त व्याकुल भी हो रहा है. अतः हे देवेश, हे जगत के आश्रय, आप प्रसन्न हों और मुझे अपना (चतुर्भुज) देवरूप दिखायें. (११.४५)

प्रभु के साकार रूप का दर्शन सम्भव है

मैं आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथ में लिए हुए देखना चाहता हूं. इसलिए हे विराट्‌रूप, हे सहस्रबाहो, आप अपने चतुर्भुजरूप में प्रकट हों. (११.४६) श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, तुम से प्रसन्न होकर मैंने — अपनी योगमाया के बलसे — अपना यह परम, तेजोमय, विराट्, अनन्त और मूलरूप तुम्हें दिखाया है, जिसे तुम से पहले किसी ने नहीं देखा है. (११.४७) हे कुरुप्रवीर, तुम्हारे सिवा इस मनुष्यलोक में किसी और दूसरे के द्वारा — न वेदों के पढ़ने से, न यज्ञ से, न दान से, न उग्र तप से और न वैदिक क्रियाओं द्वारा ही — मैं इस रूप में देखा जा सका हूं. (११.४८)

मेरे इस विकराल रूप को देखकर तुम्हें व्याकुल और विमूढ़ नहीं होना चाहिए. निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर अब तुम मेरे (शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए हुए) चतुर्भुजरूप को देखो. (११.४९) संजय

बोले– भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ऐसा कहकर उसे अपना चतुर्भुजरूप दिखाया और फिर सुहावना मनुष्यरूप धारणकर महात्मा कृष्ण ने भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया. (११.५०) अर्जुन बोले– हे जनार्दन, आपके इस सुन्दर मनुष्यरूप को देखकर अब मैं शान्तचित्त होकर अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूं. (११.५१)

भक्ति द्वारा प्रभु-दर्शन

श्रीभगवान बोले– मेरे जिस चतुर्भुजरूप को तुम ने देखा है, उसका दर्शन बड़ा ही दुर्लभ है. देवतागण भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा करते रहते हैं. (११.५२) **उस चतुर्भुजरूप में – जैसा तुम ने देखा है – मैं न वेदों के पढ़ने से, न तप से, न दान से और न यज्ञ करने से ही देखा जा सकता हूं. (कठो.उ. २.२३ भी देखें) (११.५३) परन्तु हे परन्तप अर्जुन, केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही मैं उस चतुर्भुजरूप में देखा, तत्त्व से जाना तथा प्राप्त भी किया जा सकता हूं. (११.५४) हे अर्जुन, जो मनुष्य केवल मेरे ही लिए अपने सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करता है, मुझ पर ही भरोसा रखता है, मेरा भक्त है तथा जो आसक्ति रहित और निर्वैर है, वही मुझे प्राप्त करता है. (८.२२ भी देखें) (११.५५)**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विराट्‌रूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥

१२. भक्तियोग

अर्जुन बोले– जो भक्त सतत युक्त होकर पूर्वोक्त प्रकार से (आपके इस कृष्णस्वरूप सगुण साकार रूप की) उपासना करते हैं और जो भक्त मन और वाणी से परे (अव्यक्त) अक्षर ब्रह्म को निराकार मानकर उसकी उपासना करते हैं, उन दोनों में कौन उत्तम योगी है. (१२.०१)

साकार की उपासना करें या निराकार ब्रह्म की?

श्रीभगवान बोले– जो भक्तजन मुझ में मन को एकाग्र करके नित्ययुक्त होकर परम श्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर मुझ परब्रह्म परमेश्वर के (कृष्णस्वरूप) सगुण रूप की उपासना करते हैं, वे मेरे मत से श्रेष्ठ हैं. (६.४७ भी देखें) (१२.०२) परन्तु जो मनुष्य अक्षर, अनिर्वचनीय, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, अपरिवर्तनशील, अचल और सनातन ब्रह्म की उपासना इन्द्रियों को अच्छी तरह नियमित करके, सभी में समभाव होकर, भूतमात्र के हित में रत रहकर करते हैं, वे भी मुझे प्राप्त करते हैं. (१२.०३-०४)

साकार की उपासना के कारण

परन्तु उन अव्यक्त में आसक्त हुए चित्त वाले मनुष्यों को (साधना में) क्लेश अधिक होता है, क्योंकि देहधारियों द्वारा अव्यक्त की गति कठिनाई पूर्वक प्राप्त होती है. (१२.०५) परन्तु हे अर्जुन, जो भक्त मुझको ही अपना परम लक्ष्य मानते हुए सभी कर्मों को मुझे अर्पण करके अनन्य भक्ति के द्वारा मेरे साकार रूप का ध्यान करते हैं, ऐसे भक्तों का – जिनका चित्त मेरे सगुण स्वरूप में स्थिर रहता है – मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार सागर से उद्धार कर देता हूं. (१२.०६-०७)

ईश्वर प्राप्ति के चार मार्ग

तुम मुझ में ही अपना मन लगाओ और बुद्धिसे मेरा ही चिन्तन करो, इसके उपरान्त निस्संदेह तुम मुझ में ही निवास करोगे. (१२.०८) हे धनंजय, यदि तुम अपने मन को मुझ में स्थिर करने में असमर्थ हो, तो तुम (पूजा, पाठ आदि के) अभ्यास के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा से प्रयत्न करो. (१२.०९) यदि तुम अभ्यास करने में असमर्थ हो, तो मेरे लिए अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करो, कर्मों को मेरे लिए करते हुए तुम मेरी प्राप्तिरूपी सिद्धि पाओगे. (६.२७, १८.४६ भी देखें) (१२.१०) यदि तुम इसे करने में भी असमर्थ हो, तो मुझपर आश्रित होकर, मन पर विजय प्राप्त कर, सब कर्मों के फल की आशक्ति का त्याग करो. (१२.११)

कर्मयोग का सरल और सर्वोत्तम मार्ग

मर्म जाने बिना अभ्यास करने से शास्त्रों का ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से परमात्मा के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है, और सब कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग ध्यानसे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल परम शान्ति की प्राप्ति होती है. (१२.१२)

भक्त के लक्षण

जो मनुष्य सभी प्राणियों से द्वेषरहित है, सबका प्रेमी है, दयालु है, ममता और अहंकार से रहित है, सुख और दुःख में सम, क्षमाशील और संतुष्ट है; जो अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके मुझ में दृढ़निश्चय होकर अपने मन और बुद्धि को मुझे अर्पण करके सदा मेरा ही ध्यान करता है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है. (१२.१३-१४) जिससे कोई व्यक्ति उद्वेग प्राप्त नहीं करता तथा जो स्वयं भी किसी से उद्विग्न नहीं होता; जो सुख, दुःख, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है. (१२.१५) जो आकांक्षारहित, शुद्ध, कुशल, पक्षपात से रहित, सुखी और सभी कर्मों में अनासक्त है, वैसा भक्त मुझे प्रिय है. (१२.१६) **जो न किसी से द्वेष करता है, न सुख में हर्षित होता है और न दुःख में शोक करता है; जो कामना रहित है तथा शुभ और अशुभ दोनों कर्मों के फल का त्याग करने वाला है, वैसा भक्तियुक्त मनुष्य मुझे प्रिय है. (१२.१७)** जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी तथा सुख और दुःख में सम है; जो आसक्ति रहित है, जिसे निन्दा और स्तुति दोनों बराबर है, जो कम बोलता है, जो कुछ हो उसी में संतुष्ट है, जिसे स्थान में आसक्ति नहीं है तथा जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है. (१२.१८-१९)

व्यक्ति निष्ठता से दैवी गुण पाने का प्रयत्न करे

जो श्रद्धावान भक्त मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानकर उपरोक्त धर्ममय अमृत का जीवन जीते हैं, वे तो मुझे बहुत ही प्रिय हैं. (१२.२०)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

१३. क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

सृष्टि-सिद्धान्त

श्रीभगवान बोले— हे कुन्तीनन्दन अर्जुन, इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और जो इस क्षेत्र को जानता है, उसे ज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं. (१३.०१) **हे भरतवंशी अर्जुन, मुझे तुम सभी क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ जानो. मेरे मत से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है. (१३.०२)** क्षेत्र क्या है, कैसा है, इनके स्रोत कहां है, इनकी विभूतियां क्या हैं; तथा क्षेत्रज्ञ क्या है, उसकी शक्तियां क्या हैं, वह सब संक्षेप में सुनो. (१३.०३) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से बताया गया है तथा नाना प्रकार के वेदमंत्रों और ब्रह्मसूत्र के युक्तियुक्त पदों द्वारा भी विस्तारपूर्बक कहा गया है. (१३.०४) अव्यक्त, अर्थात् आदि प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तत्त्व, पांच महाभूत, दस इन्द्रियां, मन, पांचो ज्ञानेन्द्रिय के पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल शरीर, चेतना तथा धैर्य — इस प्रकार विभूतियों के सहित क्षेत्र का वर्णन संक्षेप से कहा गया है. (७.०४ भी देखें) (१३.०५-०६)

निर्वाण-साधन के लिये चतुर्विधि आर्ष सत्य

अपने में मान और दिखावे का न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, स्थिरता, मन का वश में होना; इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य, अहंकार का अभाव तथा जन्म, वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु में दुःखरूप दोषों को बार-बार देखना; (१३.०७-०८) आसक्तिरहित होना; पुत्र, स्त्री, घर आदि में ममता का न होना; प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सम रहना, मुझमें अनन्ययोग के द्वारा अटल भक्ति का होना, एकान्त में रहना, संसारी मनुष्यों के समाज से अरुचि, अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति में संलग्न रहना, और तत्त्वज्ञान द्वारा सर्वत्र परमात्मा को ही देखना — यह सब ज्ञान (प्राप्ति के साधन) है और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान कहा गया है. (१३.०९-११)

दृष्टान्त कथा द्वारा ही प्रभु का वर्णन सम्भव

मैं तुम्हें जानने योग्य वस्तु अर्थात् परमात्मा के बारे में अच्छी तरह कहूंगा, जिसे जानकर मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है. वह अनादि परब्रह्म परमात्मा न सत् (अर्थात् अक्षर या अविनाशी) है, न असत् (अर्थात् क्षर या नाशवान) है. (वह इन दोनों से परे, अक्षरातीत, है) (९.१९, ११.३७, १५.१८ भी देखें) (१३.१२) उसके हाथ और पैर सब जगह हैं; उसके नेत्र, सिर, मुख और कान भी सब जगह हैं; क्योंकि वह सर्वव्यापी है. (ऋ.वे. १०.८१.०३, श्वे.उ. ३.१६ भी देखें) (१३.१३) वह (प्राकृत) इन्द्रियों के बिना भी (सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा) सभी विषयों का अनुभव करता है. सम्पूर्ण संसार का पालन-पोषण करते हुए भी आसक्तिरहित है तथा प्रकृति के गुणों से रहित होते हुए भी (जीवरूप धारण कर) गुणों का भोक्ता है. (१३.१४) सभी चर और अचर भूतों के बाहर और भीतर भी वही है. सूक्ष्म होने के कारण वह (मनुष्य की इन्द्रियों द्वारा देखा या) जाना नहीं जा सकता है तथा वह (सर्वव्यापी होने के कारण) अत्यन्त दूर भी है और समीप भी. (१३.१५) वह एक होते हुए भी प्राणीरूप में अनेक दिखाई देता है. वह ज्ञान का विषय है तथा सभी भूतों को उत्पन्न करने वाला, पालन-पोषण करने वाला और संहार कर्ता भी वही है. (११.१३, १८.२० भी देखें) (१३.१६) वह, सभी ज्योतियों का स्रोत, अन्धकार से परे है. वही ज्ञान है, ज्ञान का विषय है और वह तारतम्य विद्या द्वारा जाना जा सकता है. वह (ईश्वर रूप से) सबके अन्तःकरण में रहता है. (गीता १५.०६, १५.१२ तथा मु.उ. ३.०१.०७, श्वे.उ. ३.०८ भी देखें) (१३.१७) इस प्रकार (मेरे द्वारा) सृष्टि, तत्त्वज्ञान और जानने योग्य परमात्मा के विषय में संक्षेप से कहा गया. इसे तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है. (१३.१८)

पुरुष, प्रकृति, आत्मा, और परमात्मा का वर्णन

प्रकृति और पुरुष, इन दोनों को तुम अनादि जानो. सभी विभूतियां और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं. शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति भी प्रकृति से होती है और सुख-दुःख का अनुभव पुरुष (अर्थात् चेतन शक्ति) के द्वारा होता है. (१३.१९-२०) **प्रकृति के साथ मिलकर पुरुष प्रकृति के गुणों को भोगता है. प्रकृति के गुणों से संयोग के कारण ही पुरुष (जीव बनकर) अच्छी और बुरी योनियों में जन्म लेता है. (१३.२१)** यह परम पुरुष (अर्थात् आत्मा) ही (जीवरूप से) इस शरीर में साक्षी, सम्मति देने वाला, पालन कर्ता, भोक्ता, महेश्वर, परमात्मा आदि कहा जाता है. (१३.२२) इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य यथार्थरूप से जान लेता है, वह सभी कर्तव्यकर्म करता हुआ भी पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त करता है. (१३.२३) कोई साधक ध्यान के अभ्यास से, कोई सांख्ययोग के द्वारा तथा कोई कर्मयोग के द्वारा (शुद्ध किये हुए) मन और बुद्धि से अपने अन्तःकरण में परमात्मा का दर्शन करता है. (१३.२४)

विश्वास ही मोक्ष का मार्ग

परन्तु, कुछ लोग परमात्मा को इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि द्वारा) नहीं जानते. वे केवल शास्त्र और महापुरुषों के वचनों के अनुसार उपासना करते हैं. वे भी मृत्युरूपी संसार सागर को श्रद्धारूपी नौका द्वारा निस्संदेह पार कर जाते हैं. (१३.२५) हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, चर और अचर जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उन सबको तुम प्रकृति और पुरुष (अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) के संयोग से ही उत्पन्न हुए जानो. (७.०६ भी देखें) (१३.२६) **जो मनुष्य अविनाशी परमेश्वर को ही समस्त नश्वर प्राणियों में समान भाव से स्थित देखता है, वही वास्तव में ईश्वर का दर्शन करता है. (१३.२७)** क्योंकि सब में स्थित एक ही परमेश्वर को देखने वाला मनुष्य अपने-आप अपनी ही (अर्थात् किसी की भी) हिंसा नहीं करता है, इससे वह परमगति को प्राप्त होता है. (१३.२८) जो मनुष्य सभी कर्मों को प्रकृति के गुणों द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और अपने आपको (तथा आत्मा को भी) अकर्ता मानता है, वास्तव में वही ज्ञानी है. (३.२७, ५.०६, १४.१६ भी देखें) (१३.२९) जिस क्षण साधक सभी प्राणियों को तथा उनके अलग-अलग विचारों को एकमात्र परब्रह्म परमात्मा से ही उत्पन्न समझ जाता है, उसी क्षण वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है. (१३.३०)

ब्रह्म के लक्षण

हे अर्जुन, अविनाशी परमात्मा — अनादि और विकार रहित होने के कारण — शरीर में वास करता हुआ भी न कुछ करता है और न देह से लिप्त होता है. (१३.३१) जैसे सर्वव्यापी आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण किसी विकार से दूषित नहीं होता, वैसे ही (सर्वव्यापी) आत्मा सभी देह के अन्दर रहते हुए

भी (देह के) विकारों से दूषित नहीं होता. (१३.३२) हे अर्जुन, जैसे एक ही सूर्य सारे जगत को प्रकाश देता है, वैसे ही एक परमात्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चेतना प्रदान करता है. (१३.३३) **इस प्रकार तत्त्वज्ञान द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा जीव के प्रकृति के विकारों से मुक्त होने के उपाय को जो लोग जान लेते हैं, वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं. (१३.३४)**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

१४. गुणत्रयविभागयोग

श्रीभगवान बोले— समस्त ज्ञानों में उत्तम उस परम ज्ञान को मैं फिर से कहूंगा, जिसे जानकर सब साधकों ने इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि प्राप्त की है. (१४.०१) इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे स्वरूप को प्राप्त मनुष्य सृष्टि के आदि में पुनर्जन्म नहीं लेते तथा प्रलयकाल में भी व्यथित नहीं होते हैं. (१४.०२)

पुरुष-प्रकृति-संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति

हे अर्जुन, मेरी महद् ब्रह्मरूप प्रकृति सभी प्राणियों की योनि है, जिसमें मैं चेतनारूप बीज डालकर (जड़ और चेतन के संयोग से) समस्त भूतों की उत्पत्ति करता हूं. (९.१० भी देखें) (१४.०३) हे कुन्तीपुत्र, सभी योनियों में जितने शरीर पैदा होते हैं, प्रकृति उन सबकी माता है और मैं चेतना देने वाला पिता हूं. (१४.०४) **हे अर्जुन, प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणरूपी रस्सी – सत्त्व, रजस और तमस – अविनाशी जीव को देह के साथ बांध देते हैं. (१४.०५)** हे पापरहित अर्जुन, इनमें सतोगुण निर्मल होने के कारण विकाररहित और ज्ञान देने वाला है, यह जीव को सुख और ज्ञान की आसक्ति से बांधता है. (१४.०६) हे अर्जुन, रजोगुण को रागस्वरूप समझो, जिससे विषय-भोग की प्यास (तृष्णा) और आसक्ति उत्पन्न होती है. यह जीवात्मा को कर्मफल की आसक्ति से बांधता है. (१४.०७) और हे भारत, सब जीवों को भ्रम में डालने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न जानो. तमोगुण लापरवाही, आलस और निद्रा के द्वारा जीव को बांधता है. (१४.०८) हे अर्जुन, सतोगुण सुख में और रजोगुण कर्म में आसक्त करवाता है तथा तमोगुण ज्ञान को ढककर जीव को लापरवाह बना देता है. (१४.०९)

प्रकृति के तीन गुणों के लक्षण

हे अर्जुन, कभी रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सतोगुण, कभी सतोगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण तथा कभी सतोगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है. (१४.१०) जब ज्ञान का प्रकाश इस देह के सभी द्वारों (अर्थात् समस्त इन्द्रियों) को प्रकाशित करता है (अर्थात् जब जीवात्मा के अन्तःकरण में ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है), तब सतोगुण को बढ़ा हुआ जानना चाहिए. (१४.११) हे भरतश्रेष्ठ, रजोगुण के बढ़नेपर लोभ, सक्रियता, सकाम कर्म, बेचैनी, लालसा आदि उत्पन्न होते हैं. (१४.१२) हे कुरुनन्दन, तमोगुण के बढ़नेपर अज्ञान, निष्क्रियता, लापरवाही, भ्रम आदि उत्पन्न होते हैं. (१४.१३)

त्रिगुण ही आत्मा के पुनर्जन्म के वाहक हैं

जिस समय सतोगुण बढ़ा हो, उस समय यदि मनुष्य मरता है, तब जीव उत्तम कर्म करने वालों के निर्मल लोक अर्थात् स्वर्ग को जाता है. (१४.१४) जिस समय रजोगुण बढ़ा हो, उस समय यदि मनुष्य मरता है, तब वह कर्मों में आसक्ति वाले मनुष्यों में जन्म लेता है. तमोगुण की वृद्धि के समय मरने वाला मनुष्य पशु आदि मूढ़योनियों में जन्म लेता है. (१४.१५) सात्त्विक कर्म का फल शुभ और निर्मल कहा गया है, राजसिक कर्म का फल दुःख और तामसिक कर्म का फल अज्ञान कहा गया है. (१४.१६) सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से लापरवाही, भ्रम और अज्ञान उत्पन्न होते हैं. (१४.१७) सत्त्वगुण में स्थित व्यक्ति उत्तम लोकों को जाते हैं, राजस व्यक्ति मनुष्ययोनि में आते हैं और तमोगुण की हीन प्रवृत्तियों में स्थित तामस मनुष्य नीचयोनियों में जन्म लेते हैं. (१४.१८)

गुणातीत होने पर मोक्ष

जब विवेकी मनुष्य तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी अन्य को कर्ता नहीं समझता है तथा गुणों से परे मुझ परमात्मा को तत्त्व से जान लेता है, उस समय वह मेरे स्वरूप अर्थात् सारूप्य मुक्ति को प्राप्त करता है. (३.२७, ५.०६, १३.२६ भी देखें) (१४.१९) **जब मनुष्य देह की उत्पत्ति के कारण तथा देह से उत्पन्न**

तीनों गुणों से परे हो जाता है, तब वह मुक्ति प्राप्तकर जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु, के दुःखों से विमुक्त हो जाता है. (१४.२०)

गुणातीत होने की प्रक्रिया

अर्जुन बोले— हे प्रभो, इन तीनों गुणों से अतीत मनुष्य के क्या लक्षण हैं? उसका आचरण कैसा होता है? और मनुष्य इन तीनों गुणों से परे कैसे हो सकता है ? (१४.२१) श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, जो मनुष्य तीनों गुणों के कार्य —ज्ञान, सक्रियता और भ्रम — में बन्ध जाने पर बुरा नहीं मानता और उनसे मुक्त होने पर उनकी आकांक्षा भी नहीं करता है, जो साक्षी के समान रहकर गुणों के द्वारा विचलित नहीं होता तथा "गुण ही अपने-अपने कार्य कर रहे हैं" ऐसा समझकर परमात्मा में स्थिर भाव से स्थित रहता है; (१४.२२-२३) जो निरन्तर आत्मभाव में रहता है तथा सुख-दुःख में समान रहता है; जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना बराबर है, जो धीर है, जो प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान तथा शत्रु-मित्र में समान भाव रखता है और जो सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन के भाव से रहित है — वह गुणातीत कहा जाता है. (१४.२४-२५)

अनन्य भक्ति द्वारा गुण-बन्धनों को काटना सम्भव

जो मनुष्य अनन्य भक्ति से निरन्तर मेरी उपासना करता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों को पार करके परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य हो जाता है. (७.१४, १५.१९ भी देखें) (१४.२६) क्योंकि मैं (परब्रह्म) ही अविनाशी अक्षरब्रह्म, शाश्वत धर्म तथा परम आनन्द का स्रोत हूं. (१४.२७)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

१५. पुरुषोत्तमयोग

सृष्टि माया की शक्ति से उत्पन्न वृक्ष के समान

श्रीभगवान बोले— इस संसार को एक सनातन पीपल का वृक्ष कहा गया है, जिसका स्रोत (मूल) परमात्मा है, अनन्त ब्रह्माण्ड जिसकी शाखायें हैं तथा वेदमंत्र जिसके पत्ते हैं. इस संसाररूपी वृक्ष को जो मनुष्य मूल सहित (तत्त्व से) जान लेता है, वही वेदों का जानने वाला है. (गीता १०.०८ तथा कठो.उ. ६.०१, भा.पु. ११.१२.२०-२ ४ भी देखें) (१५.०१) इस वृक्ष की शाखायें सभी ओर फैली हुई हैं; प्रकृति के गुणरूपी जल से इसकी वृद्धि होती है; विषयभोग इसकी कोंपलें हैं; इस वृक्ष की (अहंकार और इच्छारूपी) जड़ें पृथ्वीलोक में कर्मबन्धन बनकर व्याप्त हैं. (१५.०२)

मोह-वृक्ष का काटना और प्रभु-शरण से मोक्ष-प्राप्ति कैसे?

इस मायारूपी संसार वृक्ष के स्वरूप आदि तथा अन्त का पता नहीं है. (इसलिए) मनुष्य इनकी (अहंकार और इच्छारूपी) जड़ों को ज्ञान और वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा काटकर ऐसा सोचते हुए — कि मैं उस परम पुरुष की शरण में हूं, जिससे ये सारी सनातन विभूतियां व्याप्त हैं — उस परमतत्त्व की खोज करे, जिसे प्राप्तकर मनुष्य पुनः इस संसार में वापस नहीं आते. (१५.०३-०४) **जो मान और मोह आदि से निवृत्त हो चुके हैं, जिन्होंने आसक्तिरूपी दोष को जीत लिया है, जो परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थित हैं और जिनकी कामनायें पूर्णरूप से समाप्त हो चुकी हैं तथा जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हो गये हैं — ऐसे ज्ञानीजन उस अविनाशी परमधाम को प्राप्त करते हैं. (१५.०५)** उस स्वयंप्रकाशित परमधाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही. वही मेरा परमधाम है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य इस संसार में पुनर्जन्म नहीं लेते हैं. (गीता १३.१७, १५.१२ तथा कठो.उ. ५.१५, श्वे.उ. ६.१४, मु.उ. २.०२.१० भी देखें) (१५.०६)

जीवात्मा भोक्ता है

जीवलोक में सनातन जीवभूत, अर्थात् जीवात्मा, मेरी ही शक्ति का एक अंश है, जो प्रकृति में स्थित मन सहित छः इन्द्रियों को चेतना प्रदान करता है. (१५.०७) जैसे हवा फूल से गन्ध को निकालकर एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद छः इन्द्रियों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है. (२.१३ भी देखें) (१५.०८) यह जीव कर्ण, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के द्वारा विषयों का सेवन करता है. अज्ञानीजन जीव को — एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हुए अथवा शरीर में स्थित गुणों से समन्वित होकर विषयों को भोगते हुए — नहीं देख

सकते; उसे केवल ज्ञानचक्षु वाले ही देख सकते हैं. (१५.०६-१०) प्रयत्न करने वाले योगीजन अपने अन्तःकरण में स्थित जीवात्मा को देखते हैं; अशुद्ध अन्तःकरण वाले अविवेकी मनुष्य यत्न करते हुए भी आत्मा को नहीं देख (या जान) सकते हैं. (१५.११)

ब्रह्म सब वस्तुओं का सार है

जो तेज सूर्य में स्थित होकर सारे संसार को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में और अग्नि में है; उसे तुम मेरा ही तेज जानो. (१३.१७, १५.०६ भी देखें) (१५.१२) मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपने ओज से सभी भूतों को धारण करता हूं और रस देने वाला चन्द्रमा बनकर सभी वनस्पतियों को रस प्रदान करता हूं. (१५.१३) मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित वैश्वानर अग्नि हूं, जो प्राण और अपान वायु से मिलकर चारों प्रकार के अन्न को पचाता है. (१५.१४) **तथा मैं ही सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हूं. स्मृति, ज्ञान तथा शंका समाधान (विवेक या समाधि द्वारा) भी मुझ से ही होता है. समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य वस्तु, वेदान्त का कर्ता तथा वेदों का जानने वाला भी मैं ही हूं. (६.३९ भी देखें) (१५.१५)**

क्षर, अक्षर और अक्षरातीत क्या हैं?

लोक में (परब्रह्म के) क्षर (नश्वर) पुरुष और अक्षर (अविनाशी) पुरुष नामक दो दिव्य स्वरूप हैं. समस्त जगत क्षर पुरुष का विस्तार है और अक्षर पुरुष (अर्थात् आत्मा) अविनाशी कहलाता है. (१५.१६) परन्तु इन दोनों से परे एक तीसरा उत्तम दिव्य पुरुष है, जो परब्रह्म अर्थात् परमात्मा कहलाता है. वह तीनों लोकों में प्रवेश करके ईश्वररूप से सब का पालन-पोषण करता है. (१५.१७) **क्योंकि मैं, परब्रह्म परमात्मा, क्षर पुरुष (अर्थात् नारायण) और अक्षर पुरुष (अर्थात् ब्रह्म) दोनों से उत्तम (अर्थात् परे) हूं, इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम कहलाता हूं. (मु.उ. २.०१.०२ भी देखें) (१५.१८)** हे अर्जुन, मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार तत्त्वतः जानने वाला ज्ञानी (परा भाव से) निरन्तर मुझ परमेश्वर को ही भजता (अर्थात् भक्ति और प्रेम करता) है. (७.१४, १४.२६, १८.६६ भी देखें) (१५.१९) हे निष्पाप अर्जुन, इस प्रकार मेरे द्वारा कहे गये इस गुह्यतम शास्त्र को तत्त्वतः जानकर मनुष्य ज्ञानवान और कृतार्थ हो जाता है. (१५.२०)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

१६. दैवासुरसंपद्विभागयोग

मोक्ष के लिये अर्जित प्रमुख दैवी गुणों की सूची

श्रीभगवान बोले— हे अर्जुन, अभय, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, दया, विषयों से न ललचाना, कोमलता, अकर्तव्य में लज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शरीर की शुद्धि, किसी से वैर न करना, गर्व का अभाव आदि दैवी संपदा को प्राप्त हुए मनुष्य के (छब्बीस) लक्षण हैं. (१६.०१-०३)

आध्यात्मिक यात्रा से पहले त्याज्य आसुरी गुणों की सूची

हे पार्थ, दम्भ, धमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान——ये सब आसुरी सम्पदा प्राप्त मनुष्यों के लक्षण हैं. (१६.०४) दैवी सम्पदा मोक्ष के लिये और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये है. हे पाण्डव, तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम्हें दैवी सम्पदा प्राप्त है. (१६.०५)

केवल दो प्रकार के मानव – ज्ञानी और अज्ञानी

हे पार्थ, इस लोक में दो ही जाति के मनुष्य हैं —— दैवी और आसुरी. दैवी प्रकृति वालों का वर्णन मैंने विस्तारपूर्वक किया, अब तुम आसुरी प्रकृति वालों के बारे में सुनो. (१६.०६) आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य "क्या करना चाहिये तथा क्या नहीं करना चाहिये" इन दोनों को नहीं जानते हैं. उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न सदाचार और न सत्यभाषण ही. (१६.०७) वे कहते हैं कि संसार असत्य, आश्रयरहित, बिना ईश्वर के और बिना किसी क्रम से अपने-आप केवल स्त्री-पुरुष के कामुक संयोग से ही उत्पन्न है. इसके सिवा और कोई भी दूसरा कारण नहीं है. (१६.०८) ऐसे (मिथ्या, नास्तिक) दृष्टिकोण से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गयी है, ऐसे मन्द बुद्धियुक्त, घोर कर्म करने वाले, अपकारी मनुष्यों का जन्म जगत का नाश करने के

लिये ही होता है. (१६.०९) वे दम्भ, मान और मद में चूर होकर; कभी पूरी न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर; अज्ञानवश मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके तथा अपवित्र आचरण धारणकर संसार में रहते हैं. (१६.१०) जीवनभर अपार चिन्ताओं से ग्रस्त और विषयभोग को ही परम लक्ष्य मानने वाले ये लोग ऐसा समझते हैं कि यह विषयभोग ही सब कुछ है. (१६.११)

आशा की सैकड़ों बेड़ियों से बन्धे हुए, काम और क्रोध के वशीभूत होकर, विषयों के भोग के लिये अन्यायपूर्वक धन-संचय करने की चेष्टा करते हैं. (१६.१२) (वे ऐसा सोचते हैं कि) मैंने आज यह प्राप्त किया है और अब इस मनोरथ को पूरा करूंगा, मेरे पास इतना धन है तथा इससे भी अधिक धन भविष्य में होगा. (१६.१३) वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूंगा. मैं सर्वसमर्थ (ईश्वर) और ऐश्वर्य को भोगने वाला हूं. मैं सिद्ध, बलवान और सुखी हूं (१६.१४) मैं बड़ा धनी और अच्छे परिवार वाला हूं. मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और मौज करूंगा. इस प्रकार वे अज्ञान से मोहित रहते हैं. (१६.१५) अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले, मोह जाल में फंसे, विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त, ये लोग घोर अपवित्र नरक में गिरते हैं. (१६.१६) अपने आपको श्रेष्ठ मानने वाले, घमंडी, धन और मान के मद में चूर रहने वाले मनुष्य अविधिपूर्वक केवल नाममात्र के दिखावटी यज्ञ करते हैं. (१६.१७) अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोध के वशीभूत; दूसरों की निन्दा करने वाले ये लोग अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करते हैं. (१६.१८)

अज्ञान का फल है दुख

ऐसे द्वेष करने वाले, क्रूर और अपवित्र नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूं. (१६.१९) हे अर्जुन, वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त करते हैं, फिर घोर नरक में जाते हैं. (१६.२०)

काम-क्रोध-लोभ नरक के तीन द्वार

काम, क्रोध और लोभ, ये जीव को नरक की ओर ले जाने वाले तीन द्वार हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग करना (सीखना) चाहिए. (म.भा. ५.३३.६६ भी देखें) (१६.२१) हे अर्जुन, नरक के इन तीनों द्वारों से मुक्त व्यक्ति अपने कल्याण के लिये आचरण करता है, इससे वह परमगति अर्थात् मुझे प्राप्त करता है. (१६.२२)

शास्त्रीय विधान का पालन अनिवार्य

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, उसे न पूर्णत्व की सिद्धि मिलती है, न परमधाम और न सुख ही. (१६.२३) **मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य के निर्णय में शास्त्र ही प्रमाण है. अतः तुम्हें शास्त्रोक्त विधान के अनुसार ही अपना कर्तव्यकर्म करना चाहिये. (१६.२४)**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥

१७. श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, जो व्यक्ति शास्त्र-विधि छोड़कर केवल श्रद्धापूर्वक ही पूजा आदि करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी है? क्या वह सात्त्विक है अथवा राजसिक या तामसिक है ? (१७.०१)

आस्था के तीन प्रकार

श्रीभगवान बोले— मनुष्यों की स्वाभाविक श्रद्धा (अर्थात् निष्ठा) तीन प्रकार की — सात्त्विक, राजसिक और तामसिक — होती है, उसे सुनो. (१७.०२) **हे अर्जुन, सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके स्वभाव (तथा संस्कार) के अनुरूप होती है. मनुष्य अपने स्वभाव से जाना जाता है. मनुष्य जैसा भी चाहे वैसा ही बन सकता है (यदि वह श्रद्धापूर्वक अपने इच्छित ध्येय का चिन्तन करता रहे). (१७.०३)** सात्त्विक व्यक्ति देवी-देवताओं को पूजते हैं; राजस मनुष्य यक्ष और राक्षसों को तथा तामस व्यक्ति भूतों और प्रेतों की पूजा करते हैं. (१७.०४) जो लोग शास्त्रविधि से रहित घोर तप करते हैं, जो दम्भ और अभिमान से युक्त हैं, जो कामना और आसक्ति से प्रेरित हैं, जो शरीर में स्थित पंचभूतों को और सबके अन्तःकरण मे रहने वाला मुझ परमात्मा को भी कष्ट देने वाले अविवेकी लोग हैं, उन्हें तुम आसुरी स्वभाव वाले जानो. (१७.०५-०६)

भोजन के तीन प्रकार

सब का प्रिय भोजन भी तीन प्रकार का होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं. उनके भेद तुम मुझसे सुनो. (१७.०७) आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ाने वाले; रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले तथा शरीर को शक्ति देने वाले आहार सात्त्विक व्यक्ति को प्रिय होते हैं. (१७.०८) दुःख, चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करने वाले; बहुत कड़वे, खट्टे, नमकीन, गरम, तीखे, रूखे और दाहकारक आहार राजसिक व्यक्ति को प्रिय होते हैं. (१७.०६) अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा और (मांस, मदिरा आदि) अपवित्र आहार तामसिक मनुष्य को प्रिय होता है. (१७.१०)

यज्ञ के तीन प्रकार

"यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है"— ऐसा सोचकर, बिना फल की आशा करने वालों द्वारा विधिपूर्वक किया गया यज्ञ सात्त्विक है. (१७.११) हे अर्जुन, जो यज्ञ फल की इच्छा से अथवा दिखाने के लिये किया जाता है, उसे तुम राजसिक समझो. (१७.१२) शास्त्रविधि, अन्नदान, मंत्र, दक्षिणा और श्रद्धा के बिना किये जाने वाले यज्ञ को तामसिक यज्ञ कहते हैं. (१७.१३)

विचार, वाणी, और कर्म का तप

देवी-देवता, पुरोहित, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन; पवित्रता, सदाचार, ब्रह्मचर्य और अहिंसा; इन्हें शारीरिक तप कहा जाता है. (१७.१४) **वाणी वही अच्छी है जो दूसरों के मन में अशान्ति पैदा न करे, जो सत्य, मधुर और हितकारक हो तथा जिसका उपयोग शास्त्रों के पढ़ने में हो. ऐसी अच्छी वाणी को वाणी का तप कहते हैं. (१७.१५)** मन की प्रसन्नता, सरलता, चित्त की स्थिरता, मन का नियंत्रण और शुद्ध विचार; इन्हें मानसिक तप कहते हैं. (१७.१६)

तप के तीन प्रकार

बिना फल की इच्छा से, परम श्रद्धापूर्वक किये गये उपरोक्त तीनों प्रकार — मन, वाणी और शरीर — के तप को सात्त्विक तप कहते हैं (१७.१७) जो तप दूसरों से सत्कार, मान और पूजा करवाने के लिये अथवा केवल दिखाने के लिये ही किया जाय, ऐसे अनिश्चित और क्षणिक फल वाले तप को राजसिक तप कहा गया है. (१७.१८) जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से अपने शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरों को क्षति पहुंचाने के लिये किया जाता है, उसे तामसिक तप कहा गया है. (१७.१६)

"दान देना हमारा कर्तव्य है" — ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के अनुसार बिना प्रत्युपकार की इच्छा से दिया जाता है, वह दान सात्त्विक माना गया है. (१७.२०) **जो दान फल-प्राप्ति, प्रत्युपकार की इच्छा से अथवा बिना श्रद्धा से दिया जाता है, वह दान राजसिक कहा गया है. (१७.२१)** जो दान देश, काल और पात्र का विचार किये विना अथवा पात्र का अनादर या तिरस्कार करके दिया जाता है, वह दान तामसिक कहा गया है. (१७.२२)

ब्रह्म के तीन नाम

ब्रह्म के — जिनके द्वारा सृष्टि के आदि में वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञों की रचना हुई है — ओम्, तत् और सत् तीन नाम कहे गये हैं. (१७.२३) इसलिए, परब्रह्म परमात्मा को जानने वालों द्वारा (शास्त्रविधि से) किये हुये यज्ञ, दान, तप आदि वैदिक क्रियाओं का प्रारम्भ सदा परमात्मा के ओंकार नाम के उच्चारण से ही होता है. (१७.२४) फल की इच्छा नहीं रखने वाले मुमुक्षुओं द्वारा नाना प्रकार के यज्ञ, तप, दान आदि क्रियाएं 'तत्' शब्द का उच्चारण करके की जाती हैं. (१७.२५) हे पार्थ, 'सत्' शब्द का प्रयोग परमात्मा के अस्तित्व, अच्छे भाव तथा शुभ कर्म के लिए भी होता है. (१७.२६) यज्ञ, तप और दान में श्रद्धा तथा परमात्मा के लिए किये जाने वाले (निष्काम) कर्म को भी 'सत्' कहते हैं. (१७.२७) **हे पार्थ, यज्ञ, दान, तप आदि जो कुछ भी कर्म बिना श्रद्धा के किया जाता है, वह 'असत्' कहा जाता है, जिसका न इस लोक में और न परलोक में ही कोई प्रयोजन है. (१७.२८)**

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

१८. मोक्षसंन्यासयोग

अर्जुन बोले– हे महाबाहो, हे अन्तर्यामिन्, हे वासुदेव; मैं संन्यास और त्याग को तथा इनके भेद को अच्छी तरह जानना चाहता हूं. (१८.०१)

संन्यास और त्याग की परिभाषा

श्रीभगवान बोले– सकाम कर्मों के परित्याग को ज्ञानीजन "संन्यास" कहते हैं; तथा विवेकी मनुष्य सभी कर्मों के फलों (में आसक्ति) के त्याग को "त्याग" कहते हैं. (५.०१, ५.०५, ६.०१ भी देखें) (१८.०२) कुछ महात्मा लोग कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं और दूसरे लोगों का कहना है कि यज्ञ, दान और तप त्याज्य नहीं हैं. (१८.०३)

हे अर्जुन, त्याग के विषय में अब तुम मेरा निर्णय सुनो. हे पुरुषश्रेष्ठ, त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है. (१८.०४) यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिये, उन्हें अवश्य करना चाहिये, क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये साधकों के अन्तःकरण को पवित्र करते हैं. (१८.०५) हे पार्थ, इन कर्मों को भी फल की आसक्ति त्यागकर ही करना चाहिये, ऐसा मेरा दृढ़ उत्तम मत है. (१८.०६)

त्याग के तीन प्रकार

हे अर्जुन, कर्तव्यकर्म का त्याग उचित नहीं है. भ्रमवश उसका त्याग करना तामसिक त्याग कहा गया है. (१८.०७) "सभी कर्म दुःखरूप है"– ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक कष्ट अथवा कठिनाई के भय से अपने कर्तव्यकर्म को त्याग दे, तो वह ऐसा राजसिक त्याग करके त्याग के फल को प्राप्त नहीं करता है. (१८.०८) "कर्म करना कर्तव्य है" ऐसा समझकर, हे अर्जुन, जो नियत कर्म – फल की आसक्ति त्यागकर – किया जाता है, वही सात्विक त्याग माना गया है. (१८.०९) जो मनुष्य अशुभ कर्म से द्वेष नहीं करता तथा शुभ कर्म में आसक्त नहीं होता, वही सतोगुण से सम्पन्न, संशयरहित, बुद्धिमान और त्यागी समझा जाता है. (१८.१०) **मनुष्य के लिये सम्पूर्णरूप से सभी कर्मों का त्याग करना संभव नहीं है, अतः जो सभी कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग करता है, वही त्यागी कहा जाता है. (१८.११)** कर्मों के तीन प्रकार का फल – अच्छा, वुरा और मिश्रित – मरने के बाद कर्मफल में आसक्ति का त्याग न करने वाले को मिलता है, परन्तु त्यागी को कभी नहीं मिलता. (१८.१२)

कर्म के पांच कारण

हे महाबाहो, सांख्य सिद्धान्त के अनुसार सभी कर्मों की सिद्धि के लिये ये पांच कारण – स्थूल शरीर, प्रकृति के गुणरूपी कर्ता, पांच प्राण, इन्द्रियां तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवगण – बताये गये हैं, जिसे तुम मुझसे भलीभांति जानो. (१८.१३-१४) मनुष्य अपने मन, वाणी और शरीर के द्वारा जो कुछ भी उचित या अनुचित कर्म करता है, उसके ये पांच कारण हैं. (१८.१५) अतः जो केवल अपने आपको (अर्थात् अपने शरीर या आत्मा को) ही कर्ता मान बैठता है, वह अज्ञानी मनुष्य अशुद्ध बुद्धि के कारण नहीं समझता है. (१८.१६) जिस मनुष्य के अन्तःकरण में "मैं कर्ता हूं" का भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (कर्मफल की आसक्ति से) लिप्त नहीं है, वह इन सारे प्राणियों को मारकर भी वास्तव में न किसी को मारता है और न पाप से बन्धता है. (१८.१७) कार्य का ज्ञान, ज्ञान का विषय (ज्ञेय) और ज्ञाता – ये तीन कर्म की प्रेरणा हैं; तथा करण अर्थात् इन्द्रियां, क्रिया और कर्ता अर्थात् प्रकृति के तीनों गुण – ये तीन कर्म के अंग हैं. (१८.१८)

ज्ञान के तीन प्रकार

सांख्यमत के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणों के भेद से तीन प्रकार के माने गये हैं. उनको भी तुम मुझसे भलीभांति सुनो. (१८.१९) जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभक्त रूप में स्थित समस्त प्राणियों में एक ही अविभक्त और अविनाशी परमात्मा को समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तुम सात्विक जानो. (११.१३, १३.१६ भी देखें) (१८.२०) जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभिन्न प्राणियों के अस्तित्व में अनेकता का अनुभव करता है, उस ज्ञान को तुम राजसिक समझो. (१८.२१) और जिस मूर्खतापूर्ण, तुच्छ और बेकार ज्ञान के द्वारा मनुष्य शरीर को ही सब कुछ मानकर उसमें आसक्त हो जाता है, वह ज्ञान तामसिक है. (१८.२२)

कर्म के तीन प्रकार

जो कर्म (शास्त्रविधि से) नियत और कर्मफल की इच्छा और आसक्ति से रहित है तथा बिना राग-द्वेष से किया गया है, वह (कर्म) सात्त्विक कहा जाता है. (१८.२३) जो कर्म फल की कामना वाले, अहंकारी मनुष्य द्वारा बहुत परिश्रम से किया जाता है, वह राजसिक कहा गया है. (१८.२४) जो कर्म परिणाम, अपनी हानि, परपीड़ा और अपना सामर्थ्य को न विचारकर केवल भ्रमवश किया जाता है, वह कर्म तामसिक कहलाता है. (१८.२५)

कर्ता के तीन प्रकार

जो कर्ता आसक्ति और अहंकार से रहित तथा धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य की सफलता और असफलता में निर्विकार रहता है, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है. (१८.२६) राग-द्वेष से युक्त, कर्मफल का इच्छुक, लोभी तथा दूसरों को कष्ट देने वाला, अपवित्र विचार वाला और हर्ष-शोक से युक्त कर्ता राजसिक कहा जाता है. (१८.२७) अयुक्त, असभ्य, हठी, धूर्त, द्वेषी, आलसी, उदास और दीर्घसूत्री कर्ता तामसिक कहा जाता है. (१८.२८)

बुद्धि के तीन प्रकार

हे अर्जुन, अब तुम मुझ से गुणों के अनुसार बुद्धि के और संकल्प के भी तीन भेद पूर्णरूप से अलग-अलग सुनो. (१८.२९) जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा मुक्ति और बन्धन को यथार्थ रूप से जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक है. (१८.३०) हे पार्थ, जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को ठीक तरह से नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसिक है. (१८.३१) हे अर्जुन, जो बुद्धि अज्ञान के कारण अधर्म को ही धर्म मान लेती है, इसी तरह सभी चीजों को उल्टा समझ लेती है, वह बुद्धि तामसिक है. (१८.३२)

संकल्प के तीन प्रकार और मानव जीवन के चार लक्ष्य

जिस संकल्प के द्वारा केवल परमात्मा को ही जानने के ध्येय से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह संकल्प सात्त्विक है. (१८.३३) हे पृथानन्दन, फल की इच्छा वाला मनुष्य जिस संकल्प के द्वारा धर्म, अर्थ और काम को अत्यन्त आसक्ति पूर्वक धारण करता है, वह संकल्प राजसिक है. (१८.३४) हे पार्थ, बुद्धिहीन मनुष्य जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और लापरवाही को नहीं छोड़ता है, वह संकल्प तामसिक कहा जाता है. (१८.३५)

आनन्द के तीन प्रकार

हे भरतश्रेष्ठ, अब तुम तीन प्रकार के सुख को भी मुझसे सुनो. मनुष्य को आध्यात्मिक साधना से प्राप्त सुख से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है. (१८.३६) ऐसे आत्मबुद्धिरूपी प्रसाद से उत्पन्न सुख को — जो आरम्भ में विष की तरह, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है — सात्त्विक सुख कहते हैं. (१८.३७) **इन्द्रियों के भोग से उत्पन्न सुख का — जो भोग के समय तो अमृत के समान लगता है, परन्तु जिसका परिणाम विष की तरह होता है — राजसिक सुख कहा गया है. (५.२२ भी देखें) (१८.३८)** निद्रा, आलस्य और लापरवाही से उत्पन्न सुख को, जो भोगकाल में तथा परिणाम में भी मनुष्य को भ्रमित करने वाला होता है, तामसिक सुख कहा गया है. (१८.३९) पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग के देवताओं में कोई भी प्राणी प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त होकर नहीं रह सकता है. (१८.४०)

व्यक्ति की योग्यता के अनुसार श्रम का विभाजन

हे अर्जुन, चार वर्णों — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र — में कर्म का विभाजन भी मनुष्यों के गुणों से उत्पन्न स्वभाव के अनुसार ही किया गया है. (४.१३ भी देखें) (१८.४१) शम, दम, तप, शौच, सहिष्णुता, सत्यवादिता, ज्ञान, विवेक और आस्तिक भाव — ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं. (१८.४२) शौर्य, तेज, दृढ़ संकल्प, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और शासन करना — ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं. (१८.४३) खेती, गौपालन तथा व्यापार — ये सब वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा शूद्र का स्वाभाविक कर्म सेवा करना है. (१८.४४)

कर्तव्य, साधना, और भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति

मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्म करते हुए परम सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकता है, उसे तुम मुझसे सुनो. (१८.४५) **जिस परब्रह्म परमात्मा से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जिससे यह सारा जगत व्याप्त है, उसका अपने कर्म के द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता**

है. (९.२७, १२.१० भी देखें) (१८.४६) अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है, क्योंकि (निष्काम भाव से) अपना स्वभाविक कार्य करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता है. (३.३५ भी देखें) (१८.४७) हे अर्जुन, अपने दोषयुक्त सहज स्वाभाविक कर्म का भी त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे धुएं से अग्नि लिप्त होती है, वैसे ही सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त होते हैं. (१८.४८) आसक्ति रहित, इच्छा रहित और जितेन्द्रिय मनुष्य संन्यास (अर्थात् सकाम कर्मों के परित्याग) के द्वारा (कर्म के बन्धन से मुक्त होकर) परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त करता है. (१८.४६)

हे कौन्तेय, नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त हुआ साधक किस प्रकार तत्त्वज्ञान की परा निष्ठा — परमपुरुष — को प्राप्त होता है, उसे भी मुझसे संक्षेप में सुनो. (१८.५०) विशुद्ध बुद्धि से युक्त, मन के दृढ़ संकल्प द्वारा आत्मसंयम कर, शब्दादि विषयों को त्याग कर, राग-द्वेष से रहित होकर, एकान्त में रहकर, हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करके, अपने वाणी, कर्मेन्द्रियों और मन को संयत कर, परमात्मा के ध्यान में सदैव लगा हुआ, दृढ़ वैराग्य को प्राप्त, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और स्वामित्व को त्यागकर, ममत्वभाव से रहित और शान्त मनुष्य परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य बन जाता है. (१८.५१-५३) उपरोक्त ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त, प्रसन्न चित्त वाला साधक न तो किसी के लिये शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा ही करता है. ऐसा समस्त प्राणियों में समभाव वाला साधक मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है. (१८.५४) **श्रद्धा और भक्ति (अर्थात् पराभक्ति) के द्वारा ही मैं तत्त्व से जाना जा सकता हूं कि मैं कौन हूं और क्या हूं. मुझे तत्त्व से जानने के पश्चात् तत्काल ही मनुष्य मुझ में प्रवेश कर (मत्स्वरूप बन) जाता है. (५.१९ भी देखें) (१८.५५)**

मेरा आश्रय लेने वाला (कर्मयोगी भक्त) सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी पद को प्राप्त करता है. (१८.५६) **समस्त कर्मों को श्रद्धा और भक्ति पूर्वक मुझे अर्पण कर, मुझे अपना परम लक्ष्य मानकर मुझ पर ही भरोसा रख तथा निष्काम कर्मयोग का आश्रय लेकर निरन्तर मुझ में ही चित्त लगा. (१८.५७)** मुझ में चित्त लगा कर तुम मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्नों को पार कर जाओगे और यदि तुम अहंकारवश मेरे इस उपदेश को नहीं सुनोगे, तो तुम्हारा पतन होगा. (१८.५८)

कर्म-बन्धन और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति

यदि अहंकारवश तुम ऐसा सोच रहे हो कि मैं यह युद्ध नहीं करूंगा, तो तुम्हारा ऐसा सोचना मिथ्या है, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव तुम्हें बलात् युद्ध में लगा देगा. (१८.५६) हे अर्जुन, तुम अपने स्वाभाविक कर्म (के संस्काररूपी बन्धनों) से बन्धे हो, अतः भ्रमवश जिस काम को तुम नहीं करना चाहते हो, उसे भी तुम विवश होकर करोगे. (१८.६०) **हे अर्जुन, ईश्वर (अर्थात् श्रीकृष्ण ही) सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर अपनी माया के द्वारा प्राणियों को यन्त्र पर आरूढ़ कठपुतली की तरह नचाता रहता है. (१८.६१)** हे भारत, तुम पराभक्ति भाव से उस ईश्वर की ही शरण में जाओ. उसकी कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत परमधाम को प्राप्त करोगे. (१८.६२) मैंने गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान तुमसे कहा है. अब इस पर अच्छी तरह से विचार करने के बाद तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो. (१८.६३)

समर्पण, प्रभु-प्राप्ति का परम मार्ग

मेरे इस समस्त गुह्यों में गुह्यतम परम उपदेश को तुम एक बार फिर सुनो. तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारे हित की बात कहूंगा. (१८.६४) तुम मुझ में अपना मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो. ऐसा करने से तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त करोगे. मैं तुम्हें यह सत्य वचन देता हूं, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो. (१८.६५) **सम्पूर्ण धर्मों का (अर्थात् पुण्य कार्यों का भी) परित्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओ. शोक मत करो, मैं तुम्हें समस्त पापों (अर्थात् कर्म के बन्धनों) से मुक्त कर दूंगा. (१८.६६)**

परमात्मा की परम सेवा तथा सर्वोत्तम दान

(गीता के) इस गुह्यतम ज्ञान को तपरहित और भक्तिरहित व्यक्तियों को, अथवा जो इसे सुनना नहीं चाहते हों, अथवा जिन्हें मुझ में श्रद्धा न हो; उन लोगों से कभी नहीं कहना चाहिए. (१८.६७) **जो व्यक्ति इस परम गुह्य ज्ञान का मेरे भक्तजनों के बीच प्रचार और प्रसार करेगा, वह मेरी यह सर्वोत्तम**

परा भक्ति करके निस्सन्देह मुझे प्राप्त होगा. उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला कोई मनुष्य नहीं होगा; और न मेरा उससे ज्यादा प्रिय इस पृथ्वी पर कोई दूसरा होगा. (१८.६८-६९)

गीता की महिमा

जो व्यक्ति हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊंगा – यह मेरा वचन है. (१८.७०) तथा जो श्रद्धा पूर्वक – बिना आलोचना किये – इसे सुनेगा, वह भी सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर पुण्यवान लोगों के शुभ लोकों को प्राप्त करेगा. (१८.७१) हे पार्थ, क्या तुमने एकाग्रचित्त होकर इसे सुना? और हे धनंजय, क्या तुम्हारा अज्ञान जनित भ्रम पूर्णरूप से नष्ट हुआ? (१८.७२) अर्जुन बोले– हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा भ्रम दूर हो गया है और मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है. अब मैं संशयरहित हो गया हूं और मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा. (१८.७३) संजय बोले– इस प्रकार मैंने भगवान श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत और रोमांचकारी संवाद सुना. (१८.७४) व्यास जी की कृपा से (दिव्य दृष्टि पाकर) मैंने इस परम गुह्य ज्ञान को (अर्जुन से कहते हुए) साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान से सुना है. (१८.७५) हे राजन्, भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र (अर्थात् कल्याणकारी) और अद्भुत संवाद को बार-बार स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूं. (१८.७६) हे राजन्, श्रीहरि के अत्यन्त अद्भुत रूप को भी बार-बार स्मरण करके मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूं. (१८.७७)

संतुलित जीवन के लिये आत्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की आवश्यकता

संजय बोले– जहां भी, जिस देश या घर में, (धर्म अर्थात् शास्त्रधारी) योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा (धर्म रक्षा एवं कर्मरूपी) शस्त्रधारी अर्जुन दोनों होंगे, वहीं श्री, विजय, विभूति और नीति आदि सदा विराजमान रहेंगी. ऐसा मेरा अटल विश्वास है.(१८.७८)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत्सत्   हरिः ॐ तत्सत्   हरिः ॐ तत्सत्
श्रीकृष्णार्पणं अस्तु शुभं भूयात्
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

यह ग्रन्थ भगवान श्रीकृष्ण को समर्पित है
प्रभु पाठकों को अच्छाई, समृद्धि,
और शान्ति प्रदान करें

ध्यान की एक सहज विधि

(१) अपने मुख, हाथ, और पैर धोयें तथा सिर, गर्दन, और रीढ़ की हड्डी को सीधे ऊपर की ओर रखते हुए आरामदेह मुद्रा में किसी शान्त, स्वच्छ, और अंधेरे स्थान में बैठें. ध्यानकाल में संगीत या धूपबत्ती आदि की सलाह नहीं है. ध्यान का काल और स्थान निश्चित होना चाहिये. वचन, विचार, और कर्म से यम-नियम का पालन करें. कुछ योगासन भी आवश्यक हैं. प्रतिदिन १५-२० मिनट संध्या, मध्य-रात्रि, और प्रातःकाल का समय ध्यान के लिये सर्वोत्तम समय है. (२) जिस इष्टदेव में आस्था है, उनका नाम या रूप का स्मरण करें, उनका आशीर्वाद मांगे. (३) अपने नयन मूंद लें, और ५-१० अत्यन्त धीमे और गहरे श्वास लें. (४) वक्ष-केन्द्र पर अपनी दृष्टि, मन, और भाव केन्द्रित कर धीरे धीरे सांस लें. भीतर की ओर सांस लेते समय मन ही मन '**रा**' का जाप करें, और बाहर की ओर सांस लेते समय '**मा**' का. ऐसा सोचें जैसे कि स्वयं श्वास ही ये '**रा**' और '**मा**' ध्वनि उच्चारित कर रहा है. मानसिक दृष्टि से नथुनों द्वारा सांस को भीतर जाते, और फिर बाहर आते हुए देखते रहें. श्वास को नियंत्रित करने का प्रयास न करें, स्वाभाविक श्वास लें. (५) श्वास ली जाती हुई वायु के अनन्त देश में अपने आप को लीन

करने का प्रयत्न करें. यदि मन श्वास-पथ का अनुसरण करने से विचलित हो, तो पुनः पग (३) से शुरु करें. नियमित हों, और टालमटोल न करके दृढ़ता से अपनी साधना जारी रखें.

श्री गीता चालीसा (दैनिक पाठ के लिए)

धृतराष्ट्र उवाच
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किम् अकुर्वत संजय ॥१.०१॥

धृतराष्ट्र बोले – हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए युद्ध के इच्छुक मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या-क्या किया ? (१.०१)

संजय उवाच
तं तथा कृपयाविष्टम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तम् इदं वाक्यम् उवाच मधुसूदनः ॥२.०१॥

संजय बोले– इस तरह करुणा से व्याप्त, आंसू भरे, व्याकुल नेत्रों वाले, शोकयुक्त अर्जुन से भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा. (२.०१)

श्रीभगवानुवाच
अशोच्यान् अन्वशोचस् त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२.११॥

श्रीभगवान् बोले – हे अर्जुन, तू ज्ञानियों की तरह वातें करते हो, लेकिन जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए शोक करते हो. ज्ञानी मृत या जीवित किसी के लिए भी शोक नहीं करते. (२.११)

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर् धीरस् तत्र न मुह्यति ॥२.१३॥

जैसे इसी जीवन में जीवात्मा बाल, युवा, और वृद्ध शरीर प्राप्त करता है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के वाद दूसरा शरीर प्राप्त करता है. इसलिए धीर पुरुष को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए. (२.१३)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य्
अन्यानि संयाति नवानि देही ॥२.२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतार कर दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के वाद पुराने शरीर को त्याग कर नया शरीर प्राप्त करता है. (२.२२)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापम् अवाप्स्यसि ॥२.३८॥

सुख-दुःख, लाभ-हानी, और जीत-हार की चिन्ता न करके मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार कर्तव्य कर्म करना चाहिए. ऐसे भाव से कर्म करने पर मनुष्य को पाप नहीं लगता.

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर् भूर् मा ते सङ्गोऽस्त्व् अकर्मणि ॥२.४७॥

केवल कर्म करना ही मनुष्य के वश में है, कर्मफल नहीं. इसलिए तुम कर्मफल की आसक्ति में न फंसो, तथा अपने कर्म का त्याग भी न करो. (२.४७)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥२.५०॥

कर्मफल की आसक्ति त्याग कर काम करने वाला निष्काम कर्मयोगी इसी जीवन में पाप और पुण्य से मुक्त हो जाता है, इसलिए तू निष्काम कर्मयोगी वन. निष्काम कर्मयोग को ही कुशलता पूर्वक कर्म करना कहते हैं. (२.५०)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन् मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर् नावम् इवाम्भसि ॥२.६७॥

जैसे जल में तैरती नाव को तूफान उसे अपने लक्ष्य से दूर ढ़केल देता है, वैसे ही इन्द्रिय सुख मनुष्य की बुद्धि को गलत रास्ते की ओर ले जाता है. (२.६७)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते ॥३.२७॥

वास्तव में संसार के सारे कार्य प्रकृति मां के गुणरूपी परमेश्वर की शक्ति के द्वारा किए जाते हैं, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपने आपको कर्ता समझ लेता है, तथा कर्मफल के बंधनों से बंध जाता है. मनुष्य तो परम शक्ति के हाथ की केवल एक कठपुतली मात्र है. (३.२७)

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानम् आत्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥३.४३॥

आत्मा को मन और बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (सेवा, ध्यान, पूजन, आदि से किए हुए शुद्ध) बुद्धि द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो, तुम इस दुर्जय कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (३.४३)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर् भवति भारत।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४.०७॥

हे अर्जुन, जब-जब संसार में धर्मकी हानी और अधर्म की बृद्धि होती है, तब मैं, परब्रह्म परमात्मा, प्रकट होता हूं. (४.०७)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारम् अपि मां विद्ध्य् अकर्तारम् अव्ययम् ॥४.१३॥

मेरे द्वारा ही चारो वर्ण अपने-अपने गुण, स्वभाव, और रुचि अनुसार बनाए गए हैं. सृष्टि के रचना आदि कर्म के कर्ता होनेपर भी मुझ परमेश्वर को अविनाशी तथा अकर्ता ही जानना चाहिए, क्योंकि प्रकृति के गुण ही संसार चला रहे हैं. (४.१३)

कर्मण्य् अकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥४.१८॥

जो मनुष्य कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है वही ज्ञानी, योगी, तथा समस्त कर्मों का करने बाला है. अपने को कर्ता नहीं मान कर प्रकृति के गुणों को ही कर्ता मानना कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखना कहलाता है. (४.१८)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर् ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥४.२४॥

यज्ञ का अर्पण, धी, अग्नि, तथा आहुति देनेवाला सभी परब्रह्म परमात्मा ही है. इस तरह जो सब कुछ परमात्मा स्वरूप देखता है, वह परमात्मा को प्राप्त होता है. (४.२४)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥४.३८॥

कर्मयोग मनुष्य के चित्त और बुद्धि को शुद्ध करके उसके सभी कर्मों को पवित्र कर देता है. ठीक समय आने पर शुद्ध बुद्धि द्वारा योगी ईश्वर का दर्शन करता है. (४.३८)

संन्यासस् तु महाबाहो दुःखम् आप्तुम् अयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर् ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥५.०६॥

हे अर्जुन, कर्मयोग की निःस्वार्थ सेवा के बिना शुद्ध संन्यास-भाव, अर्थात सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग, प्राप्त होना कठिन है. निष्काम कर्मयोगी शीघ्र ही परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करता है. (५.०६)

ब्रह्मण्य् आधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रम् इवाम्भसा ॥५.१०॥

जो मनुष्य कर्मफल में लोभ और आसक्ति त्यागकर, सभी कर्मों को परमात्मा में अर्पण करता है, वह कमल के पत्ते की तरह पापरूपी जल से कभी लिप्त नहीं होता. (५.१०)

योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६.३०॥

जो मनुष्य सब जगह तथा सब में मुझ परब्रह्म परमात्मा को ही देखता है, और सबको मुझ में ही देखता है, मैं उससे अलग नहीं रहता तथा वह भी मुझ से दूर नहीं होता. (६.३०)

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुर् अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥७.१६॥

हे अर्जुन, चार प्रकार के उत्तम पुरुष — दुःख से पीडित, परमात्मा को जानने की इच्छा बाले जिज्ञासु, धन या किसी इष्टफल की इच्छा बाले, तथा ज्ञानी — मुझे भजते हैं. (७.१६)

बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः ॥७.१९॥

अनेक जन्मों के बाद ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर कि "यह सव कुछ कृष्णमय है," मनुष्य मुझे प्राप्त करते हैं; ऐसे महात्मा बहुत दुर्लभ हैं. (७.१९)

अव्यक्तं व्यक्तिम् आपन्नं मन्यन्ते माम् अबुद्धयः।
परं भावम् अजानन्तो ममाव्ययम् अनुत्तमम् ॥७.२४॥

अज्ञानी मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के — मन, बुद्धि, तथा वाणी से परे, परम अविनाशी — दिव्यरूप को नहीं जानने और समझने के कारण ऐसा मान लेते हैं कि मैं बिना रूप वाला निराकार हूं, तथा रूप धारण करता हूं. (७.२४)

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्य् अन्ते कलेवरम्।
तं तं एवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥८.०६॥

हे अर्जुन, मनुष्य मरने के समय जिस किसी भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह सदा उस भाव के चिन्तन करने के कारण उसी भाव को प्राप्त होता है. (८.०६)

तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युध्य च।
मय्य् अर्पितमनोबुद्धिर् माम् एवैष्यस्य् असंशयम् ॥८.०७॥

इसलिए हे अर्जुन, तू सदा मेरा स्मरण कर, और अपना कर्तव्य कर. इस तरह मुझ में अर्पण किए मन और बुद्धि से युक्त होकर निःसन्देह तुम मुझको ही प्राप्त होगा. (८.०७)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥८.१४॥

हे अर्जुन, जो मुझ में ध्यान लगा कर नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सहज ही प्राप्त होता हूं. (८.१४)

अनन्याश् चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्य् अहम् ॥९.२२॥

जो भक्तजन अनन्य भावसे चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं. (९.२२)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तद् अहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ॥९.२६॥

जो मनुष्य प्रेमभक्ति से पत्र, फूल, फल, जल, आदि कोई भी वस्तु मुझे अर्पण करता है, तो मैं उस शुद्धचित्त वाले भक्त का वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, उसका भोग भी करता हूं.

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
माम् एवैष्यसि युक्त्वैवम् आत्मानं मत्परायणः ॥९.३४॥

मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे प्रणाम कर. इस प्रकार मेरा परायण होने से तू मुझे ही प्राप्त होगे. (९.३४)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥१०.०८॥

मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूं, और मुझ से ही जगत् का विकास होता है. ऐसा जानकर बुद्धिमान् भक्तजन श्रद्धापूर्वक मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं. (१०.०८)

मत्कर्मकृन् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स माम् एति पाण्डव ॥११.५५॥

हे अर्जुन, जो पुरुष मेरे लिए ही कर्म करता है, मुझ पर ही भरोसा रखता है, मेरा भक्त है, तथा जो आसक्ति रहित और निर्वैर है, वही मुझे प्राप्त करता है. (११.५५)

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥१२.०८॥

मुझ में ही अपना मन लगा, और बुद्धिसे मेरा ही चिन्तन कर, इसके उपरान्त निःसंदेह तुम मुझ में ही निवास करोगे. (१२.०८)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्व् अविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥१३.२७॥

जो पुरुष अविनाशी परमेश्वर को ही समस्त नश्वर प्राणियों में समान भाव से स्थित देखता है, वही वास्तव में ईश्वर का दर्शन करता है. (१३.२७)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१४.२६॥

जो पुरुष अनन्य भक्ति से मेरी उपासना करता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों को पार करके परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य हो जाता है. (१४.२६)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर् ज्ञानम् अपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैर् अहम् एव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविद् एव चाहम् ॥१५.१५॥

मैं ही सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हूं. स्मृति, ज्ञान, तथा शंका समाधान (विवेक या समाधि द्वारा) भी मुझ से ही होता है. समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य वस्तु, वेदान्त का कर्ता, तथा वेदों का जानने वाला भी मैं ही हूं. (१५.१५)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनम् आत्मनः ।
कामः क्रोधस् तथा लोभस् तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत् ॥१६.२१॥

काम, क्रोध, और लोभ मनुष्य को नरक की ओर ले जाने वाले तीन रास्ते हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिए. (१६.२१)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१७.१५॥

वाणी वही अच्छी है जो दूसरों के मन में अशान्ति पैदा न करे; जो सत्य, प्रिय, और हितकारक हो; तथा जिसका उपयोग शास्त्रों के पढ़ने में हो. (१७.१५)

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश् चास्मि तत्त्वतः ।
ततो माम् तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥१८.५५॥

मुझे श्रद्धा और भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है कि मैं कौन हूं और क्या हूं. मुझे जानने के पश्चात् मनुष्य मुझ में ही प्रवेश कर जाता है. (१८.५५)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१८.६१॥

हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित रह कर अपनी माया के द्वारा मनुष्य को कठपुतली की तरह नचाता रहता है. (१८.६१)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८.६६॥

सम्पूर्ण धर्मों का (अर्थात् पुण्य कार्यों का भी) परित्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओ. शोक मत करो, मैं तुम्हें समस्त पापों (अर्थात् कर्म के बंधनों) से मुक्त कर दूंगा. (१८.६६)

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्व् अभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा माम् एवैष्यत्य् असंशयः ॥१८.६८॥

जो पुरुष श्रद्धा और भक्ति पूर्वक (गीता के) इस ज्ञान का मेरे भक्तों के बीच प्रचार और प्रसार करेगा, वह मेरा सबसे प्यारा होगा और निःसन्देह मुझे प्राप्त करेगा. (१८.६८)

संजय उवाच
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर् विजयो भूतिर् ध्रुवा नीतिर् मतिर् मम ।१८.७८॥

संजय बोले– जहां भी, जिस देश या घर में, (धर्म अर्थात् शास्त्रधारी) योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा (धर्म रक्षा एवं कर्मरूपी) शस्त्रधारी अर्जुन दोनों होंगे; वहीं श्री, विजय, विभूति, और नीति आदि सदा विराजमान रहेंगी. ऐसा मेरा अटल विश्वास है. (१८.७८)

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्